

**THE BOOK WAS
DRENCHED**

UNIVERSAL
LIBRARY

OU_180391

UNIVERSAL
LIBRARY

OSMANIA UNIVERSITY LIBRARY

Call No. H 83/861 Sa. Accession No. H 2758

Author

सि. ए. रा. र. प्र

Title

रामस्मार

This book should be returned on or before the date
last marked below.

MP-

संस्कार

[एक मर्मस्पर्शी, प्रगतिशील उपन्यास]

राजा राधिकारमण प्रसाद सिंह

प्रकाशक

श्री राजराजेश्वरी साहित्य मन्दिर

पटना-६

पुस्तक प्राप्ति-स्थान
अशोक प्रेस, पटना-६

मूल्य तीन रुपए

Checked 1968

Checked 1969

मुद्रक :

श्री सुरेश कुमार
अशोक प्रेस, पटना-६

दो शब्द

अभी हाल में दाने-दाने बगैर बंगाल के सर पर जो कुछ बीत चुका या आज भी किसी हद तक बीत रहा है, वह बेमौत की मौत का तमाशा कुछ ऐसा दर्दनाक है कि दुश्मन के सर भी न बीते ! उन दिनों कलकत्ते में एकाध महीने रहकर हमने जो कुछ देखा, सुना या समझा—वह कुछ न पूछिए, कलम थर्राकर रह जाती है । यह जो किसी ने कहा है न कि मरता क्या न करता !—बस, वही तसवीर आपके सामने है । और, सच मानिए—

‘यह है आपबीती, कहानी नहीं है ।’

मगर, हम पाते हैं कि सब पर बाला है आदमी का अपना संस्कार । वह सब-कुछ समझ-बूझकर भी उसके हाथ का पुतला है जैसे । यह न होता तो इस पुस्तक का नाम कुछ और होता ।

—राधिकारमण प्रसाद सिंह

प्रियवर

आनरेबल रायबहादुर श्रीनारायण महथा

को सप्रेम

संस्कार

आज विमला चली है कंट्रोल से चावल लाने— और चावल लाने क्या, आसमान से सितारे लाने !

वह चलने को तो चली है, पर पहुँच पाएगी दूकान तक ? है यह बूता उसमें ? एक तो नई-नवेली, दूजे पर्दे की पत्नी । कलकत्ता शहर ' खेल नहीं है । उस पर १९४३ का साल ! पैर थर्रा रहे हैं—उसे लगता है कि धरती थर्रा रही है ।

करती क्या बेचारी ! नहीं जाती तो मुश्किल, जाती है तो मुश्किल ! न जाए तो खाए क्या—अपना सर ! और जाए तो क्या-क्या न खाए—धक्के, डंडे, गालियाँ और गर्द !

पति बीमार । सास और ननद दो कदम चलने से लाचार । एक तो कोयला नहीं कि चूल्हा जले; दूजे चावल नहीं कि हाँड़ी चढ़े । फिर पैसे भी नहीं कि बाजार चले । उस पर शरीफ़ का नाम, शरीफ़ की शान !

एकाध दिन तो खैर, पड़ोस के दो-चार घरों में हाँड़ियाँ रख आई । और नहीं तो किसी ने कभी थोड़ा मॉँड़ ही दे दिया । उसी से लल्ला और मुन्नी की जान में जान रही ।

बड़े की गरीबी ठहरी ! भीख की भोली गले में ढाल 'दाता की जय' पुकारना तो होने से रहा । भइ भी होती, हाथ भी न चढ़ता कुछ । पेट तो जलता ही, छाती भी लगती जलने ।

कल रात माँ ने जाने कहीं से एक रुपया निकालकर दिया—“लो बहू, चावल सबील करो; नहीं तो सब यों ही मरे ! वह बूढ़ा जो आया है गाँव से, उसे साथ ले लेना !”

“तो उन्हीं को क्यों नहीं भेज देतीं मौजी ? भला मैं कब गई बाहर ?”

“लो, यह सुनो ! उसके हाथ रुपया दूँ ? किसी का भरोसा है आज बहू ? लेकर कहीं चल दिया तो ? और, न जाओगी तो हमारा माँस खाओगी ? अब तो आज वह दिन है कि क्या बाहर, क्या अंदर !”

“और कहीं वह सुनेंगे तो जाने...”

“चल-चल, बड़ी आई है नवाब की बेटा बनकर ! कोई कुछ न कहेगा । लद गए वे दिन !”

X

X

X

बस, विमला जा रही है—कंट्रोल से चावल लाने; पेट की माँग के आगे एक न टिका—मान, न अभिमान; अनुनय, न अश्रुजल !

घर के बाहर फुटपाथ पर आकर देखती है... बाप रे ! यह आदमी की दुनिया मिट रही है क्या ? हजारों की भीड़—नंगे और भूखे—मर्द, औरत, बच्चे ! आँखें धँसी हैं, छाती की हड्डियाँ उभरी हैं, कहीं पीठ और पेट एक है, कहीं पेट फूलकर नाँद है । और हाय ! ये पैर हैं कि कनैल की टहनियों ? आँखों में आँसू नहीं, रुलाई में शब्द नहीं ।

और देखती है... माँ की ठठरी बे-जान पड़ी है और बच्चा एक बूँद दूध के लिए सीने पर सवार उसकी सूखी छाती चिचोड़े जा रहा है—चिचोड़े जा रहा है । एक ढीठ कौआ उसके मुँह के अंदर चोंच डाल जाने क्या टटोल रहा है !

गली की मोड़ पर सबक की डस्टबीन उलटकर तीन-चार बच्चे उसके अंदर की सूखी पत्तलों पर लिपटे चने के दाने चाट रहे हैं; मगर चाट भी कहाँ पाते हैं ! एक जंग छिड़ी है उसी को लेकर—“चल-दुट, मुनुआ ! नहीं तो मार तमाचे के मुँह लाल कर दूँगी ! रात तो तू ने भात खाया ही है; अब यहाँ क्या मरने आ गया ?”

“मार डाल हरामजादी ! तेरी ही कोख में हमें आना था !”

“दुटता है या लगाऊँ कसके ?”—और माँ ने कोई बारह साल के बेटे को धक्के दे छीन ली पत्तल !

हो न-हो, रात सामने के उस आलीशान मकान में कोई दावत रहीं होगी—रेडियो पर थिरक भी रहा है भैरवी का सुर । जभी तो जूठी पत्तलों और चुकड़ों का यह ढेर है ! कितनी पत्तलों पर तो कचौरियों और मछलियों के चूर-चार भी लगे हैं । माँ चाटे जा रही है पत्तल, और जब-तब आँचल का छोर खींचती छोटी बिटिया को भी चटा देती है एकाध चुटकी । बेटे की आँखों में जैसे लहू उतर रहा है—“बस, अब इधर दे । और, हाँ री हत्यारिन, यह सामने भूख से सर्वाँग मरा जा रहा है, उसे एक दाना भी नहीं चटाती । यह जुलुम !”

“जुलुम के बच्चे ! तू ने कब बाप को चटाया ? हत्यारे ने कल रात को दो दाने भी दिए होते, तो आज यह दम तोड़ता ! अब तो कोई पल में खतम है !”

और, विमला देखती है—एक अधेड़ का सिकुड़ा सूखा ढोंचा सामने पड़ा है । मुँह खुला है—लार-सा जाने क्या मुँह से चूर रहा है और अक्खियाँ उस पर इतमीनान से भिनभिना रही हैं । और विमला सोच रही

है—“बाप रे ! ऐसी भूख की आँच ! बस, एक अपना चोला—कोई किसी का नहीं ! न माँग, न गोद ! आज नारी न पत्नी है, न माता । वह स्नेह का सागर हो गया जमकर पत्थर ! वह सेवा की सोती सूखकर हो गई रेती !”

वह आगे बढ़ती है । उसके कानों में भन्न-भन्न आवाज आती है—
“तेरा बेटा जिए माँ, कब के भूखे हैं ! दो पैसे दिए जाओ ।”....

“भला हो बाबा तेरा, एक मुट्ठी कुछ” !”....

“अब जान गई दादा ! न सही भात, एक चुल्लू माँड़ भी न दोगे ?”

और, सामने के मकान से रेडियो पर थिरकती आती हैं तबले की ताथेई, सारंगी की रिनाभन और किसी के मीठे गले का लहरा—“खाली न हो पैमाना दिल का !”

और, इन्हीं के बीच सड़क चल रही है—बेलौस, निर्लिप्त । गाड़ियाँ चल रही हैं, लारियाँ दौड़ रही हैं । उसे क्या पता है—कौन कहाँ है; कहाँ क्या है ! उसका छाती पर चिह्न चाहे जो आए, चीस तो आती नहीं !

हँसते-खेलते लड़कों का एक काफिला गुजर रहा है । दो भूखे कामे आ गए हाथ पसारे, तो गिरोह के कप्तान ने हाथ का डंडा तान लिया और यों भीड़ चीरते साफ निकल गए ।

बनी-सँवरी चंद लड़कियाँ भी ठुमकती आ रही हैं जाने किधर से । खुली लट्टें हैं, लहरी साड़ियाँ । कानों के सोने के झुमके खुली धूप में भ्रुकभ्रुक भलक रहे हैं ।

आगेवाली ठमककर कहती है—“अरी मंजू, फुट-पाथ से उतर चल भाई ! कहीं पैरों से लिपट पड़े ये फूहर, तो साड़ियों की क्या गत होगी, भला !”

एक जवान केले छील-छीलकर खाए जा रहा है। वह केले के छिलके फेंक देता है फुटपाथ पर सोए भुक्खड़ों के सर पर और एक तमाशा खड़ा हो जाता है उन छिलकों को लेकर। जो पा गया, वह उठाकर उसे लगता है चाटने। पर दो-चार छिलके और बीसों चाटनेवाले। वह टेलमटेली है कि बस ! वह पल भर खड़ा होकर उस तमाशे का मजा लेता है और हँसकर एक अधखाया केला फेंकता है उन पर। बच्चे और सयाने टूट पड़ते हैं मुँह के बल। जो पा गया, वह जाने क्या न पा गया ! जो न पा सका, वह पाने-वाले की गर्दन मरोड़ने को तुल गया।

विमला ठमकी खड़ी है। उसके सामने यह कयामत का तमाशा है और उस भीड़ में वह खुद भी एक तमाशा हो रही है। दिन चढ़ आया और वह दो फर्लांग भी नहीं जा सकी है अब तक।—

कि हठात् वह बूढ़ा ब्राह्मण विशू ठाकुर आकर भुन्न-से कहता है—
“देना-लेना साढ़े बाईस ! यहाँ क्या खड़ी हो ? आगे बढ़ो।”

“हमसे न होगा बाबा, तुम्हीं जाओ।”

“वह क्या कंट्रोल की दूकान है बहू ! वही, जो सामने भीड़ लगी है। बढ़ी चलो।”

“और तुम...?”

“हम तो मारे भूख के एँठ रहे हैं बहू ! जानो, अब गिरे, तब गिरे। बस, सामने की उस कोठी में चले हम। सुना नहीं, कंगालों का भोजन है वहाँ ?”

“मगर तुम तो बाबा, ब्राह्मण ठहरे—आचारी। उनमें कैसे जाओगे ?”

“अरे, आज तो दुनिया ही कंगाल हो रही है—हम क्या अलग हैं ?

कौन ब्राह्मण, कौन चांडाल ? ऋषियों ने गोमांस तक खाया है ऐसे अकाल में ! इसी बंगाल में सोना फलता रहा; आज यह क्या हो गया एक पल में !...ना-ना, यहाँ की धरती कंगाल नहीं, यहाँ के वासी कंगाल जो हों !”

और वहाँ फाटक पर एक हंगामा खड़ा है । टिड्डियों की तरह लोग पिले पड़ते हैं । दरवान फाटक रोक शोर कर रहा है—“बस-बस, अब जगह नहीं है । क्यों नाटक जान दे रहे हो ? हमें तो बस, सौ को पास करने का हुक्म था और जाने कितने घुस गए ! चलो हटो यहाँ से !”

विशू ठाकुर यों मुँह का आहार छिनते देख अपना जनेऊ हाथ में ले उठे हैं—उस दरवान को शाप से जलाकर भस्म कर देने !

“अरे बाबा, यह ब्राह्मणों की ज्योनार नहीं है । कहाँ जाओगे अंदर !”

“तो तेरे बाप का क्या ? कंगाल पर क्या कोई मुहर लगी है ? न जाने देगा तो यहीं हम जनेऊ तोड़ बैठते हैं तेरे नाम पर ! एक ब्राह्मण का खून आज तेरे सर होगा ।”

दरवान ने धक्के देकर उन्हें फाटक के अंदर ठेल दिया—ब्राह्मण की हत्या भला कौन सर पर ले !

ब्राह्मण देवता तो कंगालों के गिरोह में शामिल हो गए । भूख आज उनके तमाम संस्कारों को खा गई थी ! अब विमला अकेली पड़ गई । बेचारी छाती पर पत्थर रख आगे बढ़ी ।

दूकान तो आ गई, मगर बाप रे ! वह भीड़ कि कंधे छिल रहे हैं । क्या करती, क़तार में खड़ी हो गई ।

और, पीछे से जबरदस्त रेलों आता है कि पोंव उखड़-उखड़ जाते हैं गरीब के । न लाज, न लिहाज ! लोग चढ़े जाते हैं एक पर एक ! वह

सिमट रही है, पिस रही है। सुन भी रही है—‘अरे, यह तो बड़ी वैसी है यार !’ और, एक मनचले ने उसके कंधे पर हाथ भी रख दिया।

वह ‘क्यू’ तोड़ सरक गई। हा भगवान् ! यह मरने के दिन भी आदमी जानवर से इंसान नहीं हो पाता !! भूख की आँच में सब कुछ जल गया, मगर यह शैतानियत नहीं जली।

फुहियाँ लगीं पड़ने। टिप्-टिप्, टप्-टप्, भम्-भम्। भीग गए कपड़े। मगर भीड़ बनी की बनी रही। पानी पड़े या पत्थर, कोई कतार छोड़ने को तैयार नहीं। भीगे जा रहे हैं, फिर भी डटे हैं।

विमला ‘क्यू’ से अलग जा पड़ी, तो भीगती खड़ी रही। फिर माँका देख घँस गई औरतों के गिरोह में। यहाँ भी वही धींगा-मुश्ती !

‘हाँ री, निगोड़ी ! तू तो रात बाड़ीवाली के साथ जाने कहाँ गुम हो गई ? क्या कमा लाई ?’

“चल-हट, आई है……”

“अरी वाह री ! भर घर ननद और सास से ठिठोली ! हमीं से ”

“क्या बताऊँ ? न जाती तो आज यहाँ चावल लाने कैसे आती ?”

“और तेरे दूल्हे ने सुन पाया तो ?”

“हुँह ! जैसे कि वह कुछ जानता ही नहीं !”

“कहती क्या है तू ?”

“राम कहो ! न जाती तो अभागा खाता क्या, हमारा माँस ?”

“अच्छा ! तो बेकार ही बैठा है क्या ?”

“क्या करे ? न निकला कोई रास्ता तो पल्टन में भरती हो जाएगा।”

“अच्छा, आज रात हमें भी लिये चलना भाई !”

और विमला के पाँव-तले की धरती उलट-पुलट हो रही है। उफ ! आज अभाव की तंगी के आगे नारी की लाज भी तंग आ गई है क्या ! एक-एक संस्कार पछाड़ खा-खाकर गिरता है, और गिरगिरकर चूर हो रहा है ! न धर्म है, न कर्म ! न प्यार है, न संस्कार ! एक अन्न की कमी ने मानव-जीवन के विचार और आदर्श की, प्रीति और प्रतीति की तमाम कीलें उखाड़कर धर दीं।

बादल छँट गए। कड़ाके की धूप। कयामत की उमस। और विमला चींटी की चाल आगे सरक रही है।

चार का घंटा बजा। उसके होश पैतरे खाने लगे—हाय राम ! सारा दिन गल गया यों ही ! दूकान बंद होने का टैम आ गया !

एक तो भूख और प्यास की शिद्दत, फिर बरसात और धूप की मार। उस पर दिन-भर की खटन बेकार होने को आई।

विमला ने मन मुट्ठी में धामा। आगे बढ़ी। चावल नहीं पाती तो आज रात भी गई यों ही। धक्के खाती है। छाती पर घिसमें आ रहे हैं—परवा नहीं। हो, जो हो; बगैर चावल लिये वह लौटने की नहीं।

दो सेर चावल बाँध वह मुझती है कि दूकान बंद हो जाती है। जो रह गए यों ही टापते, उनकी आँखों पर अंधेरा छा गया—अब ?

उनमें एक जान पर आ गया। झपट पड़ा विमला पर। एकाध मुट्ठी तो हाथ मार लें। मगर विमला ने उस चावल की पोटली को, ईमान क्या जान की तरह, छाती में समेट लिया। धक्का खाकर गिर पड़ी, रोड़े पर सर पड़ा, भट खुल गया। फर-फर लहू निकल पड़ा।

‘हैं हैं ! यह क्या !’—एक हंगामा खड़ा हो गया। बेचारी पिसती-

पिसती बच गई। दूकान का मालिक दौड़ आया। विमला को सहारा देकर उठाया, पल-भर घूरकर देखा भी। नौकर को पुकारा। पानी माँगा। सर धो दिया और एक पट्टी भी बाँध दी।

विमला उठने को तो उठी, पर पाँव जैसे जवाब न बैठे। तिलमिलाकर बैठ गई।

“कहाँ रहती हो जी?”

“इसी रास्ते पर थोड़ी दूर आगे।”

“अबे, ओ घुरना! ले, एक रिक्शा तो पुकार ला।”

तभी एक औरत रिक्शे पर सवार दूकान के सामने से गुजरी।

दूकानदार की वह परिचित निकली। पुकारा—“विनोदिनी! अरे भाई, यह एक औरत बेतरह चोट खा गई है। इसे ज़रा घर पहुँचा देना। मकान तुम्हारे पड़ोस में ही कहीं है।”

विनोदिनी काहे को सुनने लगी? यह जंजाल कौन ढोए!

“अजी, सुनो भी! तुम तो ऐसा मुँह फेर लेती हो, जैसे कभी किसी की जान-पहचान ही नहीं।”

विनोदिनी उतर पड़ी। पास आई। विमला को देखा तो बोली—“अच्छा, लाओ, इसे घर पहुँचाकर तो कहीं जाऊँगी।”

और विनोदिनी उसे लिए आ गई उसके घर। सहारा देकर अंदर ले गई। उसकी सास से मिली। ननद से भी। उनकी गरीबी देखी, उनकी बेबसी समझी। बोली—“पड़ोस में ही तो रहती हूँ मैं। जब कोई वैसी जरूरत हो, तो मैं अपना नौकर मेज दे सकती हूँ मदद के लिए। खुद भी जब-तब देख लूँगी, फ़ुरसत रही तो।”

कोई सात दिन बाद ।

“मैं तो नहीं जाती जीजी, चाहे जान ही क्यों न जाय !”

“तो सबकी जान गई ही समझो !” — बड़ी ननद ने जरा भवें नचाकर कहा ।

“अच्छा जाने दो भाई, बड़ी वैसी है वह !” — विनोदिनी मुँह बनाकर बोली ।

छोटा-सा घर । और, घर क्या — एक घिरौंदा । तिमंजिले मकान का एक कोना — नीचे का तल्ला । दो छोटे-छोटे कमरे — जैसे कबूतर के दरबे । चटाइयों से घिरा दो हाथ का आँगन ।

छोटे-मे सायबान के एक कोने में विमला आँखें नीची किए चुप खड़ी है । विनोदिनी उसके कंधे पर हाथ रख झुकझोरती है, मगर विमला ज्यों-की-त्यों बुत की तरह खड़ी है ।

जब कोई जवाब न मिला, तो विनोदिनी एक अजब अदा से नाक पर उँगली रखकर कहने लगी — “तो भाई, मैं चली । मैं भी एक दिन ऐसी ही थी नकचढ़ी ! मगर जब पेट में आग लगी, तब जैसे तीनों लोक नजर आ गये ! ... बस, मेरे पास तो एक अठन्नी बच रही है, रखे जाती हूँ ।”

और विनोदिनी दरवाजे की ओर मुड़ गई ।

“यह लो ! वह चली गई ! अब कैसे क्या होगा ? अरी, तू बड़ी

वह है बहू ! जान है तो जहान है । मेरा सिन होता, तो आज मैं तेरा मुँह जोहती ?”

“ठहरो जीजी ! माँ से पूछती हूँ , उनके पास तो कुछ बचा-खुचा.....”

तभी खंमे की आड़ से सास की आवाज भन्नाती-सी आई—“लो सुनो ! यहाँ मरने के दिन आए । अब आज किसके लिए छिपाकर रखूँगी ?
हाय भगवान, अनिल का रोग तू मुझे दे देता !”

“देख भाई, परिवार पर जो बीत रही है, बे-खाये-पिये, वह तो बीत ही रही है तेरे सामने ; मगर वगैर दवा-दारू के अनिल को कहीं कुछ हो गया तो तू कहीं की न रहेगी, बहू ! आखिर स्त्री का तो सब-कुछ है वह ।”—जीजी ने आँखों में आँसू भरकर कहा ।

“मगर जीजी, उस ‘सब-कुछ’ को रखने के लिए मैं अपना सब-कुछ लुटा दूँ ? यही सीख दे रही हो तुम ? फिर उनके सामने आँखें भी सीधी कर सकूँगी, बदन छुलाना तो दूर रहे ?....आखिर क्या है स्त्री का सब-कुछ —पति या पत ?”

“पति ही के लिए न पत है पगली ! उसके मरने ही पर चिता पर चढ़ेगी ? उसके जीवन के लिए भी तो आज चढ़ ।”

“उफ ! पति और पत में यह होड़ ! इस मुश्किल का क्या हल है राम ! स्त्री क्या रखे, क्या छोड़े—यह या वह ?”

“बात न मानेगी, तो दोनों से हाथ धो बैठेगी—माँग से भी, आबरू से भी ! गॉठ बाँध ले इसे ।”

“सो कैसे ?”

“ऐसे कि अभी तो एक जून माँ-भात खाकर चल गया कि तेरा यह

लिहाज टिका किसी तरह । एकाध दिन में जब घर में एक दाना न रहेगा और लहरेगी पेट में आग, तब न धर्म बाँध थाम सकेगा, न लाज । मैं उठूँगी मुन्नी का सौदा करने और तू हाथ-पैर मार 'सोनागाछी' की राह नापेगी । मगर तबतक अनिल दूध और दवा के बगैर तड़पकर टें बोल चुका होगा ।”

“और बात मान लेती हूँ तो ?”

“तो दोनों हाथ लड़ूँ हैं । अनिल जी उठता है और सँभाल लेता है घर । एकाध दिन तेरी साँसत जरूर है, मगर जी जाँत सह लेना है, बस ! फिर क्या छूत तुझे लगेगी ? अपनी आग के लिए करती तो पाप होता, जब सेवा के लिए करती है, तो सरासर धर्म है आज । भगवान अंतर्दामी हैं बहन ! उनसे तो छिपा नहीं कि पति और परिवार के प्राणों की खातिर तू वह दे रही है, जिसे जान देकर भी बचा पाती, तो भर पाती । इस त्याग के प्रताप के आगे सती का चितारोहण भी बच्चों का खेल है आज !”

“मगर जीजी, कहीं उन्होंने सुना तो....?”

“तो सती के चरणों की धूल माथे पर लेंगे !”

“सती के ?”

“हाँ-हाँ, सती के ! हजार बार सती—सीता, सावित्री ! आदमी होंगे, तो तेरे इस त्याग की महिमा गाएँगे और हैवान होंगे, तो जान ही लेंगे न; ले लेंगे जान ! मेरी तरह सूनी माँग लिये तो न मरेगी !”

अनिल एक ग़ैर-सरकारी आफ़िस का किरानी है । साठ की तनखाह ! परिवार बराबर गाँव पर रहा । बूढ़ी माँ, एक अथेड़ विधवा बहन । उसकी ग्यारह साल की बच्ची मुन्नी, और स्त्री विमला—गोद में तीन साल का लल्ला ।

बंगाल में तबाही आई। बाढ़ आई। महुँगी आई। तंगी आई। इनके भी लहू काँप गए, पाँव उखड़ चले। जबतक गाँव में टिक सके, टिके। फिर गहने बेचे, बर्तन बेचे; कुटौनी-पिसौनी की। मगर जब चावल के लाले पड़ गए और कोई किसी का पुरसाँ-हाल न रहा, तब क्या करते? जैसे-तैसे कलकत्ते भाग खड़े हुए। साथ आया एक बूढ़ा ब्राह्मण वैष्णव आचारी। अनिल के पिता के वक्त से ही साथ रह आया है—आज इस दुर्दिन में भी साथ है। आया था कि इन्हें पहुँचाकर लौट जायगा; लेकिन लौट न सका। और जाता भी कैसे? थो भी टेंट में एक दमड़ी?

अनिल कोई बीस दिन से बुखार में बेहोश पड़ा है। बेहोश क्या, वह तो मौत से आँखमिचौनी खेल रहा है जैसे। न डाक्टर, न वैद्य! दैव की मार सब पर बाला।

एक तो गाँव ही से छुँछी होकर आई है विमला। यहाँ भी पाती है कि घर में चूहे डंड पेल रहे हैं। कलकत्ते में भी चावल आसमान का फूल हो रहा है जैसे। किसी के तन पर साबित लत्ता नहीं, गहने का कौन सवाल! कोई ऐसा अपना नहीं जो कहीं से कुछ माँग भी लाए! और, कोई माँगे भी तो किससे माँगे? है भी किसी से पहचान यहाँ? हर कोई तो इसी जंजाल में गिरफ्त है। पसीने की कमाई खानेवालों की दुनिया जैसे तबाह होने को आई है आज!

साथी में साथी है वही पड़ोस की विनोदिनी।

वह है जरा वैसी-सी! अजब चुलबुली! माथे पर सिंदूर नहीं, मगर मुँह पर पाउडर जरूर जगा है। किया क्या जाय? एक वही तो ऐसी पड़ोसिन है, जो जब-तब आकर उधार-पधार भी मदद दे जाती है। उस

दिन एक डाक्टर को भी बुला लाई। डाक्टर ने रोगी की परीक्षा कर 'टायफाइड' बतलाया। कह दिया—'अगर दवा-दारु का इंतजाम नहीं हुआ, तो फिर बेचारे की जान गई समझो ! अस्पताल में भरती होने की कोई उम्मीद नहीं—यों ही दुनिया के भुखमरे बिछे पड़े हैं वहाँ !'

डाक्टर की फीस कौन दे ? है भी किसी के पास कुछ ? विनोदिनी किसी हीले से डाक्टर को तो टाल ले गई, मगर रोग को कैसे टालती ? कलकत्ते-जैसे शहर में बगैर पैसे के एक सीक भी सरका सकता है कोई ?

विनोदिनी ने, कोई न होकर भी, इतना किया, वही बहुत है—आज की इस बेदर्द दुनिया में। अब वह बेचारी पैसा कैसे हो जाय ! पैसा लाने का रास्ता भी दिखाने को तैयार है वह—ऐसा कि किसी को कानोंकान खबर तक न हो। मगर जब कोई उसे रसातल का रास्ता समझ मुँह बिचकाए, तो वह क्या करे ? आखिर उसी रास्ते पर चल आज पतले दिनों में भी वह अपना पेट पाल रही है, अपने परिवार का भी। और, वही क्यों ? आज तो जैसा दिन आया है, जाने कितनी भूख से भाँभर नैयों का पतवार हो रहा है यह !

विमला की आँखों के सामने दुनिया उलट-पुलट रही है। धरती फट रही है। आसमान सीना ताने मँडरा रहा है। सितारे कोढ़ के धब्बे-जैसे दीख रहे हैं।

कैसे वह एक पल में अपने हाथों अपना सर्वस्व लुटा दे ? फिर क्या लेकर वह जिएगी ? वैसे जीने से फायदा ? '.....' मगर यों भी तो उसका सब-कुछ मिटा जा रहा है—न माँग रहती है, न गोद ! '.....' तो वह अपने को मिटाकर उनको बचा पाएगी ? और कहीं न बचा पाई तो ? कौन ठिकाना,

विनोदिनी उसे कहीं लिये जा रही है— किसी जाल में ? खुलती भी तो नहीं वह !..... और दिन होता तो वह विनोदिनी की छाया से भी दूर भाग खड़ी होती; मगर आज उसी का साया पकड़ना है। वह धरती में गड़ती है तो गड़े। हों; जीजी तो इतमीनान दिलाती हैं कि वह उसकी डूबती नाव को उबार लेंगी। आज ज़माने की हवा का रुख देख कितनों ने पाल बदल लिया अपनी नाव पर ! वह नहीं बदलती तो फिर उसकी भरी नाव भँवर में डूबकर ही रहेगी। और तो और, पति और पुत्र—दोनों की हत्या उसके सर घटरेगी।

और विमला के प्राणों की पंजरियों में रह-रहकर गूँज जाती है सास की आवाज—‘अनिल मरता रहे और वह अपनी आबरू लिये एंठी फिरे ! तो हमारे किस काम की है वह ? तुम्हें भाई के लिए मोह न हो; मगर हम माँ होकर तो यह देख न सकेंगी। ऐसी-तैसी ऐसे सत की !’

‘जाने दो माँ ! वह जानती नहीं कि आज उसी पर दारमदार है सब का ? तुम्हारा ही बेटा नहीं—उसका भी तो सब-कुछ है अनिल !’

और विमला सोचती है कि इस आपत्काल में वह अपनी लाज खोकर भी अगर सर पर सिंदूर रख सकी, तो जो कुछ वह खो रही है, उससे बढ़कर वह पाती नहीं है ! उसका नुकसान बढ़ा है या उसका लाभ ? इसी सिंदूर के लिए स्त्री जान देती है, मान न देगी ? ‘मगर सर के उस सिंदूर की जब लाली ही उतर गई, तो फिर वह सर पर रहा तो, न रहा तो...’

और विमला दो विरोधी धाराओं के बीच टकरा रही है, तड़प रही है।

रात हो आई—गंभीर, डरावनी ! टिप्-टिप् बूँदें पड़ रही हैं। आसमान रह-रहकर तड़प उठता है। और रह-रहकर खुली खिड़की से आती

है—सड़क की पटरियों पर आवारे कुत्तों की तरह भीगते 'भिखमंगों की आवाज—'एक मुट्ठी बासी भात दो बाबा ! भगवान भला करेगा !'

भगवान ? कहाँ है वह करुणानिधान ? तू भी कंगाल हो गया आज क्या ? गरीबों के लिए तू भी पिशाच बन गया ?

चूल्हा ठंडा पड़ा है । घर में एक दाना नहीं । विनोदिनी ऊँट के मुँह में जीरा—एक अठन्नी रख गई थी ! वह ज्यों-की-त्यों ताक पर रखी है । किसी ने उसे छुआ तक नहीं । मुन्नी रो-तड़पकर सो गई है । बाहर दरवाजे पर किसी एक सिख ड्राइवर ने उसकी ठुड़ी को ठुनक कर एक चवन्नी दे दी थी । उसी की दो मुट्ठी लाई लेकर फटी-सी एक चटाई पर बेसुध-सी पड़ी है । विमला होती तो ड्राइवर की दाढ़ी थाम मारे तमाचों के मुँह लाल कर देती । मगर, अजब है यह मुन्नी की माँ, जो उस बदमाश से घुसुर-फुसुर जाने क्या किया करती है जब-तब !

यह लो ! जीजी तो सायबान में बैठी विशू बाबा से गुपचुप जाने क्या बातें कर रही हैं ! चेहरे के उतार-चढ़ाव से, पेशानी के तनाव से और आँखों की मटकियों से, तो लगता है कि वही विनोदिनी की दिल दहलानेवाली बात होगी ।

विमला जानती है कि यह बूढ़ा ब्राह्मण मुद्दत से इस परिवार में ऐसा घुल-मिल गया है कि भले-बुरे का उससे कोई पर्दा नहीं । फिर भी उससे ऐसी बात की चर्चा ! छिः-छिः ! जीजी सब लाज-शर्म धोकर पी गईं क्या ? आखिर आदमी अपनी परेशानी में यों सुध-बुध खो बैठता है एकबारगी ?

विमला चक्कर काटती वहीं आकर बैठ गई ।

“अब सहा नहीं जाता बाबा ! कहीं से कुछ उपाय करो ।”—जीजी ने भीगे गले से कहा ।

“कोई कान भी दे तब न ? किसी को किसी की क्या पड़ी है भला ? सौ-सौ फेरे तो लगा आए । दे भी तो किसको-किसको दे कोई ? सारा शहर तो भिखमंगों से भर गया है आज ! जिसे देखो, वही सड़क की पटरियों पर एँड़ियों रगड़ता फिर रहा है—एक मुट्ठी भात की तलाश में । और घंटों दौड़-धूप के बाद दो-चार आने मिल गए तो फ्रायदा ? वह ऊँट के मुँह में जीरा ! बूढ़ा आदमी ठहरा, पैर भी तो अब जवाब दे चुके ।”

“तो फिर ?”

“बस, बहू को जैसे-तैसे राजी करो । और कोई उपाय नहीं । इसी का भरोसा है अब तो ।”

“आप गुरु-पुरोहित ठहरे । आप ही उसे समझावें तो बने ।”

“समझाना क्या ? हमने तो करके दिखला भी दिया । एक आचारी, जिसने आज तक किसी का छुआ जल तक नहीं पिया—अन्न खाना तो बूर रहे—वही चांडालों की पोंत में खिचड़ी खाने बैठ गया ! क्या करता—‘शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम् !’ आज क्या कोई धर्म-कर्म लागू है ? ऐसे ही दुर्भिक्ष में ऋषियों ने गो-मांस तक खाया है—हाँ, गो-मांस तक !”

“आपकी भी बात मान लेती.....”

“मानेगी नहीं मेरी रानी ? ऐसी क्या ज़िद है उसकी ! वह गुरु का आशीर्वाद सर पर रख नरक में भी जाती है तो उसका कल्याण ही होगा । नहीं जाती है, तो पति-हत्या के साथ-साथ एक ब्रह्महत्या भी उसके सर होगी—हाँ !”

और जीजी विमला की ओर मुखातिब हुई—“सुनती है बहू ? तू जो डरती है !”

“भोरी है अभी ! उसका डरना भी सही है । बस, भूल उसकी यही है कि वह समझती नहीं कि पाप किसी कर्म में नहीं, बुद्धि में है । जब नीयत शुद्ध है—यह मन नहीं डिगा है, तो फिर तू क्या करती है, क्या नहीं करती—कोई कर्म तुझे बाँध नहीं सकता । जब तू उसमें नहीं है, तो फिर तुझे लेकर कोई जो जी चाहे, करे; तू तो लिप्त होती नहीं—होता है वह । भगवान ने भी गीता में कहा है—

“यस्य नाहं कृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते

हत्वापि स इमाँल्लोकान्न हन्ति न निबध्यते ।”

—यानी, जिसकी बुद्धि विचलित नहीं हुई और जो अपने जी से शामिल नहीं है, वह फिर किसी की हत्या भी कर बैठे तो वह हत्या उसे नहीं लगती, न वह कर्म ही उसकी मुक्ति में बाधक होता है ।”

“मगर समाज तो उसे दंड देगा ही !”—विमला बोली ।

“समाज क्यों दंड देगा ? दे तो यह उसकी भूल है । जो सच्चा न्यायाधीश है—लकीर का फकीर नहीं—वह खूनी को भी रिहा कर देता है, अगर पाता है कि उसने वाध्य होकर, बचाव के लिए, ऐसा किया है—किसी स्वार्थ के लिए नहीं । और, न कोई समझदार उसे धम के विरुद्ध मान सकता है—

“ब्रह्मण्याधाय कर्माणि संगं त्यक्त्वा करोति यः

लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा ।”

—जब उस कर्म में उसकी आसक्ति नहीं, तो पाप उसे लगता कहीं है ?

वह तो पानी के कमल-सा उसके ऊपर है—चूँकि पाप की जड़ है आसक्ति !”

“फिर तो किसी की चाल-चलन पर उसे बुरा-भला ठहराना भूल है ?”

“और क्या ? तुम्हें पता नहीं, गोपियों ने भी कन्हैया को समझा था कि वह तो भौरा-सा फूल-फूल का रसिया है ! उनकी भूल ! वह क्या तुम जानती हो न ? यमुना के उस पार सर पर पकवान लिये गोपियाँ चलीं दुर्बासा से मिलने । मगर बरसाती नदी उमगी हुई थी, जाती तो कैसे जाती ? कृष्ण ने कहा कि यमुना के तीर पर खड़ी होकर कहना कि हे यमुने ! अगर कृष्ण ब्रह्मचारी हों, तो तुम थाह में आ जाओ । गोपियाँ हँस पड़ीं—‘अजी वाह, कृष्ण और ब्रह्मचारी ?—जिससे कोई जवान गोपी नहीं छूटी !’ मगर इसी बात पर सचमुच यमुना थाह हो गई ! फिर तो उनके अचरज की सीमा न रही । लग्गी एक दूसरे का मुँह ताकने ! और, क्यों न हो ? उनकी दृष्टि तो इतनी पैनी थी नहीं जो देख सकें कि यह प्रेम-कीड़ा तो बस, एक विडंबना है । वह खुद तो उसमें है नहीं—यह है उसकी लीला । तो भाई, हम अलग हैं, यह शरीर अलग है । हम अपने को इस शरीर के हवाले कर दें, तो फिर जो कुछ करें, वह हम पर लागू है, नहीं तो नहीं ।”

विशू बाबा इतना कहकर चुप हो गए । लगे विमला के चेहरे पर उठते हुए भावों को शौर से पढ़ने । एक छन बाद फिर बोले—“अब रह गया इस शरीर का प्रश्न । तो भाई, इस शरीर को तो एक दिन मिट ही जाना है । दधीचि ने अपनी हड्डियाँ दे दीं देवताओं के उपकार के लिए । तो क्या तुम अपने पति के लिए इस शरीर का मोह नहीं छोड़ पाती ? आखिर एक छींटा-भर आता है उस पर—कुछ जान देना तो नहीं है !”

विमला बोली—“जान देना आसान है, मगर यों”

“क्या जान-जान लगाए हो बहू ! जान देना खेल है ? किसी ने दिया है अबतक ? देवताओं ने भी तो न दिया, जब उनका धर्म जाने को आया !”

“क्यों महाराज ?”

“इसलिए कि आत्महत्या महा पातक है । यह शरीर है तो फिर सब-कुछ है । यही सोपान है जीव के उत्थान का ! इसे तो हर हालत में बचाकर रखना है ।...तुम्हें जो देना है, उसे दो—जान रखने के लिए दो, अपने प्रिय जनों की जान बचाने के लिए दो । यही त्याग तुम्हारे नारीत्व का तिलक है आज । तुम्हारी इच्छा शुभ है तो भगवान तुम्हें शुभ फल देंगे—तुम्हें पति के साथ स्वर्ग देंगे । चाहो तो मुक्ति देंगे । जानती हो न, उनका कोई विधान करुणा से रहित नहीं ।”

विमला एक पल नख से धरती कुरेदती रही । फिर टुश-से बोली—“वह स्वर्ग और मुक्ति न देकर अजदाता ही होते तो हम भी उनकी करुणा का गुन गातीं”—और वह उठकर चल दी ।



कुल बाईस वसंत की विमला । उभरे हुए चेहरे पर भरी जवानी का
छलकता हुआ पानी !

आज उसी पर परिवार की टक लगी है । और क्यों न लगे ? बड़ी तो
बस अब उनकी रोटी है । पानी पड़े या पत्थर ! ले, भई ! यह एक संबल
तो है ! जब बाजार में आएगा, अशक्तियों से न भी तुले, परिवार की दोनों
जून ढाल-रोटी तो चला लेगा न !

उसका यौवन उनकी आँखों में जल रहा है—अंधेरे में खोए नाविक की
निगाहों में नदी के कगार पर रखे दीपक की लौ की तरह ।

उन आँखों का आग्रह घड़ी-घड़ी उग्र हो रहा है । विमला उन आँखों
में देख नहीं पाती है अब ! कैसी व्यग्र प्रतीक्षा—कैसी ज्वलंत आकुलता—हे
उन आँखों में !—साथ-साथ एक अनिश्चयता का आभास भी; जैसे बड़ा
छोटे परिवार की गलती हुई दुनिया उसके होठों पर थर्रा रही है अब !

विमला को लगता है कि उन आँखों की दृष्टि भूखे मेढ़िये की जलती
आँखों की शिखा की तरह लपटें उगल रही है । उनमें न करुणा है, न
ममता । एक कठोर निर्मम हिंसा की उद्दीपना धीरे-धीरे घनी हो रही है जैसे ।
किसी मदोन्मत्त मर्द की निगाहों में भी शायद ऐसी प्रलयी लालसा की छौं
न होगी ।

वह पग-पग पर सिमट रही है, थर्रा रही है, जैसे कि वह उनका क्या-कुछ चुराए चल रही है और वे जासूसी निगाहें आठों पहर हाथ धोकर उसके पीछे पड़ी हैं। कौन जाने, वे किसी पलत भूष्या मार उसका सर्वस्व छीनकर तो दम लें। अंदर की साँस अंदर है और बाहर की बाहर।

उसे डर लगता है कि वह ज्यादा ढेर करेगी तो माँ और बहन की ममता ही नहीं, उनकी अपनी भूख की ज्वाला भी उसे दावानल की तरह चारों तरफ से अंधाधुन्ध घेर लेगी; उसका झोटा थाम विनोदिनी के हवाले कर देगी। उनकी तीव्र बुभुक्षा की वह नंगी तलवार सर पर टूटकर अब आई कि अब।

और विमला देखती है—सायबान के एक कोने में जीजी उसी विनोदिनी को लिये जाने क्या-क्या इशारे कर रही हैं ! चेहरे पर नसें उभरी-सी खड़ी हैं । एक-एक मुद्रा से साफ़ जाहिर है कि दलाल के आगे माल की दरकसी चल रही है और बस, सौदा पटा कि वह खड़ी-खड़ी बिक गई !

$i_1 = 1$ **X** $i_2 = 2$ **X** $i_3 = 3$ **X** $i_4 = 4$ **X** $i_5 = 5$ **X**

भूख से लल्ला रो पड़ा। माँ की छाती का उत्स तो सूखने पर आया है, बच्चा जिए क्या पीकर ?

विमला उसे बहलाने बाहर ले आई, मगर वह काहे को बहले ? रो-रोकर उसने आसमान सर पर उठा लिया ।

जीजी ने कड़ककर कहा—“पेट में तो आग लगी है, वह चुप होने को है ? तू जैसी राक्षसी ठहरी—गोद भी खाएगी, माँग भी धोएगी !”

विमला तिनककर बच्चे को गोद लिये दरवाजे पर चली आई। देखती है—बूढ़ी माँ, जो कभी घर के बाहर कदम नहीं रखती, जाने कहाँ से लाठी

टेकती, सरं मुकाए चली आ रही हैं। बेटी और बहू से आँख चुराती एक अलग कोने में आकर बैठ रहीं। हो-न-हो, आज अपने चोले की फ्रिक् में कहीं से कुछ उड़ा लाई हैं ! आखिर इस पापी पेट से कहीं तक लड़ती बेचारी !

विमला बाहर सबक पर आ गई। सोचती है—कहीं से वह भी कुछ पा सकती है कि नहीं ? मारे भूख के लची जा रही है—लची जा रही है पल-पल।

एक फटेहाल बूढ़ा फकीर लाठी टेकना गला फाड़ गाए जा रहा है सामने—‘दो कौर खिला दे बाबा, दो कौर। जान ले-ले, ईमान ले-ले; पेट भर दे बाबा ! बस कच्चा, पक्का, सड़ा, सूखा—कुछ भी दे बाबा ! सब कबूल !’

मगर इधर दुनिया अपनी धुन में मस्त अपनी राह चल रही है। किसी के कान पर जूँ तक नहीं रेंगती।

सामने एक फलवाले की दूकान पर भिखमंगे बच्चों की भीड़-सी लगी है। भीड़ तो भीड़, छीना-फपटी भी है बराबर। खोंचों के अंदर से सड़े-गले फल सामने की नाली में फेंक दिए गए हैं। उनसे सड़ान उठ रही है—मक्खियाँ भिनभिना रही हैं। उन्हीं सड़े-बुसे फलों पर एक लूट-सी मच रही है। जो गुठली या छिलका भी पा गया है, वह जैसे जाने क्या पा गया है !

विमला जाने क्या सोचकर दूकान के सामने बच्चे को लिये खड़ी हो गई। एक टक करीने से सजे फलों को देखती है, पर मुँह खोल माँग नहीं पाती। क्या माँगें, कैसे माँगें ? आँखों से खाने को तो खा रही है वह; पर इस खाने से भूख बुझने के बजाय और भी दून पर हो गई।

फलवाले ने विमला की फटी-मैली साड़ी देखी, उसकी आँखों की बेबसी

देखी और गरीबी को चीरकर फूटती जवानी की लहर भी देखी। आँखें नचाकर बोला—“क्यों, फल चाहिए ?”

“.....”

“पैसे हैं ?”

“.....”

“तो न सही पैसे, एक मीठी-सी मुस्कान भी दोगी ?” उसने शरारत भरी आँखों से मुस्कुरा दिया।

“बदमाश कहीं का ! कमीने !”—विमला के मुँह से अचानक निकल पड़ा।

“ओ हो ! रस्सी जल गई, एँठन न गई !”

विमला गुस्से से काँप उठी। फलों को देख छुटपटाते बच्चे को कसकर छाती में सिमटाए बाईं ओर मुड़ गई।

फलवाले का कोई हमजोली खड़ा था खंमे की आड़ में। आगे बढ़कर बोला—“अजब उल्लू हो तुम भी ! छूटते ही बोसा तलब कर बैठे ! अजी, पहले कोई फल-वत्त तो दे दिया होता !”

“हाँ, यार ! ज़रा जल्दी हो गई।”

फलवाला विमला को पुकार उठा—“अरे, सुनो भी तो ! बस, ज़रा-सी बात मुँह से क्या निकल गई कि तुम एकबारगी यों तिनक पड़ी। एकाध फल में क्या रखा है ? लो भई, यह लिये जाओ !”

विमला ठमककर मुड़ी। फलवाले ने एक आम उसकी ओर लुढ़का दिया। उसे उठाने को जो वह झुकी तो सीने से आँचल सरक गया।

फलवाले की आँखें खिल उठीं। अनायास मुँह से निकल पड़ा—“अजी

वाह ! क्या कहने हैं इस उठान के ! लो यह एक और नजर है !”—और उसने इस निशाने से उसे उचकाया कि वह उसकी छाती पर जा पड़ा ।

उसके साथी ने कहा—“एक केला दे देता—यह आम दे दिया तू ने ? जाने कौन है वह !”

“रह गए तुम भी ! अजी, एकाध आम में क्या रखा है ? जब जी खोल दिया ही, तब कुछ उसके मुँह-लायक भी न देता ? वह पैसे का केला क्या देता !”

इधर विमला भन्ना उठी । तेवर पर बल आ गए । आँखों में लहू उतर आया । पल-भर सकते में खड़ी रही । एक आम के मोह में पड़ क्या कर बैठी वह ! आत्म-ग्लानि के चपेटों के आगे भूख की लौ भी तिलमिला पड़ी एक पल ! हाय ! गरीब की मजबूरियों पर यों निगाह उलट देती है दुनिया ! वह पैसेवाली न सही, शरीफ भी न रही ?

“ले जा, अपने फल !”—कहती हुई बच्चे को लिये विमला घर की ओर मुड़ी । मगर बच्चा काहे को माने ? ऐसा बेतरह हाथ-पैर फेंक फलों पर टूट पड़ा कि विमला की सिट्टी-पिट्टी गुम हो गई । एक क्रिस्सा खड़ा हो गया वहाँ । क्या करती बेचारी; चटपट दोनों आम आँचल में समेट अपने दरवाजे की ओर लपकी ।

“देखा ? यों नहीं मानती तो बच्चे की तक्षमना देगी !”—और उसी पल उसके कानों पर जैसे गूँजती हुई आवाज़ आई—‘यों न मानोगी तो शौहर की तक्षमना देगी !’

एक फल तो उसने बच्चे को दे दिया ; दूसरा खुद भँभोड़कर खाने लगी । वह उसे खाना नहीं चाहती थी—चाहती थी कि उसे पैरों के तले

कुचली कर रायता कर दे ; मगर भूख की चिलचिलाती आँच के आगे आवेश गलकर आँखों में बह आया ।

मुन्नी की नाक में गंध पड़ी, तो देखती है कि मामी बैठी हुई आम चूस रही है ; उसे एक फाँक भी नहीं देती । दौड़ी हुई माँ के पास गई—“माँ, मामी तो जाने कहाँ से आम लाई है । हमें भी एक दो माँ !”

“भला, आम के दिन तो बीत चुके !”

“वह देखो न, वह क्या चुप-चुप खा रही है !”

“तो जा, माँग ले उससे ! हमारे पास क्या है पगली ?”

“वह नहीं देती मुझे ।”

“तो हम कहाँ से लाएँ ? वह तो आम क्या, हीरे-मोती भी ला सकती है...” अजब है इस औरत का दिल भाई ! अपने लिए तो जाने कैसे क्या कर लेती है गुपचुप— शौहर के लिए आँख में दो बूँद आँसू तक नहीं !”

मुन्नी बिलख पड़ी ।

“तू उस सिख झाड़वर के घर जाकर दो-चार पैसे के लिए छछनती क्यों नहीं ? उस दिन कैसे ऐंठ लाई थी चवन्नी ?”— मुन्नी की माँ बोली ।

विमला ने पुकारकर कहा—“अच्छा ले, एक फाँक लेती जा ।”

“रख-रख अपना आम ! सब खा चुकी तो चली है गुठली देने !”

“हाँ री बहू ! गुठली कहीं फेंक न देना । उसे तोड़कर अंदर की गुद्दी निकाल लेनी है । पकाकर खा लेगा कोई ।... जा बेटा, देख तो, और भी गुठलियाँ पड़ी होंगी...” उस फलवाले की दूकान के इर्द-गिर्द !”

“मगर मुन्नी की निगाह तो माता के आँचल के खूँट पर है । बोली—
“वह तुम्हारे आँचल के खूँट में क्या बँधा है ?”

“कहाँ ? कुछ तो नहीं !”

“वह, वहाँ—पीठ पर ! हमी से चली हो... ”

जीजी ने आँचल का खूँट खोलकर एक अठन्नी हथेली पर रख ली ।

“अरे भाई, उस दिन जो तेरे बाप की रही-सही निशानी मूँदरी बेच आई थी ; वही एक अठन्नी बच रही है । खोटी निकल गई, और तब से खूँट में बँधी पड़ी है ।”

“लाओ तो ! शायद बढ़ा लेकर.....”

“अरी चल ! तुझसे यह नहीं होगा । आने दे विनोदिनी को ।”

कि मुन्नी ने चील के झपट्टे-से उसके हाथ से अठन्नी मार ली—“अरे, यह तो नई है, नई !”

“है तो तेरे बाप का क्या ? ला, इधर दे ।”

और जीजी दौड़ पड़ी झप्पा मार उसे छीन लेने । हाथा-पाई की नौबत आ गई !

“तू माँ नहीं, राक्षसी है—राक्षसी ! अपने लिए रख छोड़ा है और हमें जाने किस-किस की होंकी की माँझ चटा देती है हत्यारी !” — पिनकती हुई मुन्नी अठन्नी लिये नौ-दो ग्यारह हो गई ।

इधर विमला सोचती है—हाय रे करम ! और-तो-और, माता भी माता न रही आज ! एक कौर भात के लिए माँ-बेटी में लुका-चोरी ही नहीं, तना-तनी भी है सरासर ! मिट गई मुरौवत ! लुट गई ममता ! कोई किसी का नहीं आज ! बस, अपनी-अपनी पड़ी है । एक पेट ही सत्य है—न आत्मा, न परमात्मा ; न माया, न ममता । बस, पेट पले, संस्कार जाय रसातल — जाय संसार जहनुम !” नए और पुराने की टक्कर ! आज तो जैसे पुराय ही

पाप है, पाप ही पुरण । भगवन् ! तुमने अब अपनी इस सृष्टि के संचालन से इस्तीफा दे दिया क्या ? या धर्म के सर से अपना हाथ ही सिकोब लिया जैसे ! सच कहो, जीवन की इस गुथी का कोई हल है आखिर ? यों पाप का प्रताप बढ़ाकर तुमने किस उद्देश्य की सिद्धि सोच रखी है ?



शाम का अधेरा छा चुका है ।

विमला देखती है—घर में एक अजीब गुपचुप है आज । जीजी तो विनोदिनी को लिये आज भी साँसी में जाने क्या फुसुर-फुसुर कर रही हैं अलग । उधर माँ मुन्नी की पीठ सहलाती सबेरे-सबेरे सो रहने का आग्रह कर रही हैं—“सो रह, बिटिया रानी ! हम वक्त पर जगा देंगी न ! तुम्हें भर-पेट मछली-भात खिलाएँगी आज !”

“कल शाम को भी तो……”

“अरे ! कल जरा-सी गड़बड़ हो गई । आज वैसी कोई बात नहीं ।”

और मुन्नी नानी की जाँघ पर सर रख, रोहू की पेटियों के रसाल-नंदन में खोई-सी, आँखें बंद कर लेती है ।

बस, सब शांत । घर में जैसे कोई है ही नहीं ! तूफान के पहले जैसे सब-कुछ सुन्न हो जाता है एकबारगी !

धीरे-धीरे अँधियारी घनी होती जा रही है ।

विमला आज जाने क्यों उस अँधेरे से घबरा रही है । वह उसे काटने आया है—नहीं-नहीं, उसे खाने ! वह सायबान के एक कोने में सिमटी बैठी है । भूख पर भी डर हावी है आज । कब जाने क्या बीत जाय किस-पर, उस मुँह बाएँ अँधेरे में । वह आँखें उठा देख नहीं पाती है । उसे

लगता है कि दीवार की आड़ में जाने कौन बैठा है उधर—जैसे एक धुँधली छाया-सी दिख जाती है जब-तब ।

विमला को लगता है, जाने किस आशंका में सारी सृष्टि दम रोके थरती खड़ी है आज !

खट्-खट् !

विमला एकबारगी चौंक उठती है—हैं ! दरवाजे के किवाड़ पर खटखटा रहा है यह कौन ! उसे खटका, वही तो नहीं है—वह, जिसे विनोदिनी.....यह एकबारगी धड़धड़ाता मकान के अंदर !

धड़—धड़—धकड़-धकड़ !

विमला की छाती भी लगती है धड़-धड़ करने । आखिर यह कौन ऐसा दबंग है, जो यों किवाड़ पीट रहा है धड़ाधड़ ? यह हाथ का जोर है या पैसे का ?..... तो क्या किवाड़ तोड़ उसे घर से बाहर पकड़ ले जाने को तुल्ला है वह ? तो क्या यही थी जीजी की बंदिश ? यों सही-शाम उसे आततायी के हाथ

कि इतने में जीजी की आवाज कान पर टकराती है—“देख तो बहू ! यह कौन किवाड़ पीट रहा है यों ?”

विमला सूख गई । हो-न-हो, वही वह है ! विनोदिनी आई आध घंटे पहले उसकी दूती बनकर ! यों जाल बिछाकर टक लगाए बैठी है यहाँ ! विमला थर्रा गई—किवाड़ खोले कि पकड़ गई !

वह ज्यों-की-त्यों बैठी रह गई ।

जीजी ने कसमसाती उठकर किवाड़ खोल दिए । देखा—एक बड़ी-बड़ी मूँछोंवाला तगड़ा-सा आदमी कोई खड़ा है, सर पर बड़ा-सा साफ़ा बाँधे ।

“लाओ किराए के रुपए ! आज ही का वादा था, न ?”

जीजी की सिट्टी-पिट्टी गुम ।

“न दोगी आज, तो फिर समझ लो !”—उसने ज़मीन पर हाथ के डंडे को ठोककर कहा ।

“तो अभी ‘आज’ खत्म कहाँ हुआ ? सारी रात पढ़ी है !”

“यह सुनो ! हम आयेंगे आधी रात को किराया वसूलने ?”

“सुबह आके ले जाना भाई !”

“चला आज और कल का सिलसिला !”

“नहीं-नहीं, एक महीने का तो जरूर.....”

“तो कल सुबह तुम नहीं दोगी तो फिर हम एक न सुनेंगे । धक्के देकर घर से निकाल देंगे—कोई मरे या जिए; समझो ?”

और, वह उसी तैश में डंडा फटकारता चल दिया ।

“लो, सुन लो बहू ! रात-भर की मीयाद ठहरी । सब तो सब, यह तो कहो, अनिल का क्या हाल होगा ?”—जीजी बोलीं ।

“तो हमारे पास रखा ही क्या है, जीजी ?”

“तुम्हारी जवानी, और क्या ? यों न भानोगी तो फिर समझ लो, मरता क्या न करता ! उसे दिन-दहाड़े लूट न ले कोई !”

तभी अनिल की कराह विमला के कानों में पड़ी । वह झटपट अदर दाढ़ पड़ी । देखा—वह वैसे ही बेसुध पड़ा है । चाँद-सा मुखड़ा सूखकर जर्द पड़ गया है । आँखों के नीचे नीली-नीली धारियाँ-सी उग आई हैं । हजामत न बनने की वजह दोनों गाल खुरखुरे हो रहे हैं ।

विमला ने अपने होंठ उसके गाल पर, उसकी आँखों पर, उसके ललाट

पर रखे.....जैसे चाहती हो कि ज्वर के ताप को मुँह से चूस ले। उसकी आँखें भर आईं ! छाती पर से चादर सरक गई थी, उसे अपनी जगह कर दिया। फिर, पैताने बैठ उसकी सुपुलियों को सहलाने लगी ! कभी हाथ से, कभी गाल से।

हाय ! दिन-पर-दिन सरकते गए—कभी जो घड़ी-भर आँखें खोली होतीं बेचारे ने !

मगर शायद अजब होती है किसी स्नेह के स्पर्श की मोहिनी ! अनिल की रगों में बिजली-सी दौड़ गई या जाने क्या हुआ, उसकी आँखें खुल पड़ीं। विमला की जान में जान आ गई। उसने दौड़कर उसके सर को गोद में ले लिया।

आँखें चार होते ही अनिल अपनी स्वर-शक्ति पर भार देकर पुकार उठा—“विमला !”

विमला का कलेजा उचककर मुँह को आ गया—‘भगवन् ! क्या अनिल का ज्वर विमला के सर पर नहीं पलट सकते ? चाहे दसगुना भी हो, वह उसे खुशी से आँखें बिछा ले लेगी। अनिल को तो स्वस्थ देख पाती ! विनोदिनी की बंदिश से तो छुट्टी पा जाती ! यों न दोगे तो उसकी जान भी लेकर दो नाथ ! विमला दसों नख जोड़े तुम्हारे चरणों पर सर गेर रही है आज !’

“विमला !”

“क्या चाहिए, बोलो !”

“दूध तो न होगा ?”—अनिल ने धीमे स्वर में कहा।

“देखती हूँ।”

“न सही दूध, पानी ही दे दो घूँट-भर !”

विमला ने सर गोद में लिये ही, दो घूँट पानी टपका दिया ।

होंठ फिर बंद हो गए—आँखें फिर झिप गईं ।

विमला एक पल उसे देखती रही । फिर सर को तकिए पर हौले-हौले रख उठ पड़ी । सिरहाने जाने क्या सोचती खड़ी रही ।

कान पर एक आइट-सी आई । देखा—विशू ठाकुर हाथ में कुश लिये खड़े हैं—“लाओ बहू, अनिल को भाड़ भी दें ।” वह मंत्र पढ़ भाड़ने बैठ गए । भाड़कर उठे तो साथ-साथ विमला भी बाहर आई । बेबसी से दबी ख़वान में ठाकुर बोले—“अब तो सूखे गले से पाठ भी नहीं हो पाता बहू ! क्या बताएँ ? अभी मृत्युञ्जय का जप अलग है । रात जो ख़रा-सी लाई और गुड़ की ढली खाई, वही खाए हो गए जाने कितने घंटे ! सामने की गली में एकाध फेरे भी दिए; किसी ने एक न सुनी ।”

मगर विमला ने जैसे कुछ सुना ही नहीं, चट पूछती है—“थोड़ा दूध मिलेगा बाबा ?”

“राम कहो बहू ! दूध भला कौन देता है यहाँ !”

“तो फिर……”

“हममें से कोई अपनी जान देकर भी दूध ला पाता, तो अब तक चुप बैठा रहता ? हमारे पास तो एक कौड़ी भी न रही बहू ! हमी जानते हैं कि कैसे बे-खाए-पिए अनिल के स्वास्थ्य के लिए दिन-रात खट रहे हैं—महामृत्युञ्जय का जप लिये ! अब तो पनाह एक तुम्हीं हो सकती हो बहू, भगवान भी नहीं । कहीं भूख की तड़प से यह जप अधूरा रह गया, और उससे अनिल का कुछ बुरा-भला हुआ तो ?”

“तो बाबा, तुम भी सच्चे हृदय से यही चाहते हो कि हम”

“भगवान साक्षी है बहू ! सुहाग ही के लिए सब है न ? घर में जब आग लगी है, तब अपनी संचित सोने की पेटियाँ न देखो—जान देखो । आज इस घोर आपद में किसका क्या रहा, किसका क्या लुटा, सोचना भी पागलपन है । सच मानो, भाव प्रधान है, कर्म नहीं । भाव शुद्ध है, तो नीच से भी नीच कर्म पवित्र समझो । और, कोई भी कर्म कुकर्म नहीं, यदि तुम उसे अनासक्त भाव से करो । आज वही कर्म तुम्हारा कर्तव्य हो रहा है जैसे । परमात्मा में विश्वास रखकर तुम निर्भय होकर जाओ—तुम्हारा बाल भी बाँका न होगा । अपना कुछ गँवाकर भी किसी दुखिया की सेवा से बढ़कर कोई परमार्थ नहीं । और, सुनो बहू, यहाँ तो दुखिया ही की सेवा नहीं, उसके जीवन की रक्षा का भी प्रश्न है, जिसके जीने और मरने पर तुम्हारा अपना भी जीना और मरना निर्भर है ।”

“जाने को तो हम जायँ, मगर फिर हम कहीं की रह पाएँगी ?—लोक हो या परलोक”

“फिर वही जिद ! अभी उसी दिन घंटों सर खपाया, पर तुम्हारा मन नहीं भरता । जैसे कि हमारा कोई अपना स्वार्थ है इसमें । जो कुछ कमा लाओगी, उसे लेकर अपना ही बेड़ा पार करोगी—कुछ हमारा नहीं । बस, समझ लो कि अपने को लुटा कर भी तुम अपनी माँग और गोद बचा पाती हो तो तुम्हारा दोनों सँवरता है—लोक भी, परलोक भी ।”

“परलोक भी ?”

“हाँ-हाँ, परलोक भी ! तुमसे कहा है न कि जब मन चंगा है तो फिर कहीं कोई आशंका नहीं । लो, तुम्हें एक और कथा सुनाते हैं—

दो मित्र थे—राम और श्याम । नदी पार कर नाव से उतरे तो श्याम ने राम से कहा—“भाई, बहुत दिन पर तो आज हम मिले हैं । क्यों न आज शहर में दो घड़ी आनन्द की कटे ! सुना कि नहीं, वह जो रम्भा बाई इस शहर में आई है—क्या कहने हैं उसकी बुलन्दी के ! रूप भी, रस भी, आँख भी और गला भी ! क्या गाती है, क्या नाचती है ! और सोने में सुगन्ध—तरुणी भी, वारुणी भी ! आज की रात तो बस, वहीं बीते !”

‘है तो ठीक, मगर यह रूप और रस, यह तान और सुर तो बस, पल-भर आँख-कान ही तक धिरक कर रह जाते हैं—आत्मा तक गुजर नहीं । और, वहाँ मठिया पर अखण्ड हरिकीर्तन जो हो रहा है—कभी सुना है तुमने ? क्या आनन्द है, क्या उछाह ! भीतर भी भरे, ऊपर भी उभरे ! और आज तो मेरी ब्यूटी भी है; मुझे कीर्तन में जाना ही है ।’

‘हो तुम भी एक ही बुद्धू ! यह सिन और यह लगन ! अच्छा, तो गाओ, गला फाड़ो ! मैं तो चला ।’

और, श्याम के पैर बीच में रुकते कहाँ ! महफिल जमी थी । वह भी आ जमा ।

“मगर जिस रस की चाट पर वह हवा के घोड़े पर सवार आया, वह रस तो जैसे आसमान का फूल निकला । सपना तो था कि उस रासमण्डल के बीच वह सचमुच ‘श्याम’ बनकर रहेगा और रम्भा ‘राधिका’ की लौ लेकर धिरकेगी । मगर टूट गया वह सपना जब पहुँच कर उसने देखा कि यहाँ पचास हजार गोपियों की आँखें एक कृष्ण पर न होकर पचास हजार कृष्णों की आँखें एक गोपी की चितवन के इशारे पर धिरक रही हैं और उन

ललचाये लोचनों के रेलपेल में उसकी अपनी चितवन रम्भा की आँखों तक पहुँच पाने की जगह ढूँढ़ती रह गई !

और, बस, उठ आई प्रतिक्रिया की एक लहर—उतर गया वह नशा !

“तभी पास के मठिया से थिरकती आती ‘जय सियाराम जय-जय सियाराम’ की आनन्द-विभोर ध्वनि उसके कानों की राह प्राणों तक गूँज उठी और वह लगा माथे के अन्दर सर धुनने कि हाय ! नाहक मैं इस पत्थर से टकराया—गुनाह बेलज्जत ! क्या आनन्द मनाता होगा राम उस कीर्तन की मीठी धुन पर ! और उसके दिल की धड़कन के ताल पर थिरकती रही अन्दर-ही-अन्दर कीर्तन की वही वाणी—‘जय सियाराम जय-जय सियाराम ।’ वैसे तो उसने वहाँ खाया भी, पिया भी और रात आधी जाते-जाते रम्भा की मृणाल-भुजाएँ भी उसके गले में आईं, मगर वह अन्दर की रट बनी-की-बनी रह गई ।

“इधर भाल के ताल पर कीर्तन की कड़ी उठाते एक बार रम्भा के गले की ऊँची तान जो रात के सन्नाटे में हवा पर लहराती हुई राम के कानों पर आकर बजी तो एक समों उभर पड़ा उसके सामने । आँखों के आगे भगवान की मूर्ति है तो क्या, आँखों के अन्दर फिरने लगी रूप और यौवन के कुलेलों की लहर-लीला और रसना की सतह पर खेलती हुई ‘जय-जय सियाराम’ की ध्वनि की प्रतिध्वनि उसकी चेतना की तह तक पहुँचते-पहुँचते ‘राम करे कहीं नैना ना उलमे’ की गुनगुनाहट में बदल आई और वह मसोस कर रह गया— हाय ! मैं यों सर खपा रहा हूँ और किस मौज की मस्ती में भ्रमता होगा श्याम, आज उस विलासिनी की महफ़िल में !

“असन्तोष की साँस भरते दोनों मित्र जब पलटती नाव पर सवार हुए

तो अचानक वह बवंडर उठा कि खौलती नदी की तरह में डूब गई वह नाव और डूब गए राम और श्याम । तब आए यमदूत और राम को स्वर्ग और श्याम को नरक की राह लेकर चल पड़े ।

“विष्णु भगवान् वी आँखें जब इधर मुझीं तो चट दखल दे बैठे—‘हैं, यह क्या ! रहे तुम जड़ के जड़ ! अरे, पाप और पुण्य का स्थान मन है या तन ? समझा नहीं तुमने कि जो कीर्तन की मण्डली में गया वह तो रात-भर रम्भा की तान पर कान जमाए रहा और जो नाच की महफिल में बैठा वह कीर्तन की धुन उठाए रहा । फिर कौन पापी हुआ, कौन पुण्यात्मा ?”

“और, कीर्तनवाले को नरक मिला—महफिलवाले को स्वर्ग !

“तो समझी, जैसी करनी, वैसी भरनी—यानी जिस करनी में जैसी तुम्हारी बुद्धि होगी, वैसी तुम्हारी गति होगी ।”

हठात् पीछे से जीजी की आवाज आई—“क्या बात है बहू ?”

क्या कहे बेचारी विमला ?

विशू ठाकुर ने कहा— “अनिल ने अभी आँख खोली थी; थोड़ा दूध चाह रहा है ।”

“मरा बेचारा यों ही तड़पकर ! और, तू आज-कल किए जा रही है चांडालिन ! आखिर सब करेगी भख मारकर, माँग खा लेगी जब !” जीजी ने तड़पकर कहा ।

“राम कहो, ऐसी बात भी मुँह से निकालते हैं !”—विशू ठाकुर ने टोक दिया ।

जीजी ताव में थी; वह काहे को सुनें ? पहलू बदल उन्होंने फिर बार किया—“तू क्या समझती है हत्यारिन, कि हम यों भाई को मरने देंगी ? तू

नहीं जाती तो बस, समझ रख, तू ही रही या हमीं रहीं इस घर में !”

और जीजी लाल आँखें किए भपाक-से टूट पड़ी कि उसे पकड़कर खींच लें बाहर। विमला एक भटके-से हाथ छुड़ाकर बड़बड़ास अनिल के घर में लौट पड़ी। पछाड़ खाकर पति के चरणों पर जा गिरी।

उस धक्के से अनिल की आँखें खुल पड़ीं। लगा विमला को एकटक देखने। रह-रहकर उसके मुँह से एक कराह-सी उठ आती और साथ-साथ अंदर के किसी दर्द की हूक पर वह सिमटकर एँठ जाता। चेहरा सफेद पड़ जाता, आँखें उलट पड़तीं और पेशानी की नसें उभर आतीं।

विमला डर गई। उसके कान के पास मुँह ले जाकर बोली—“कहीं दर्द है ?”

उसने सीने की ओर इशारा किया। दो पल विमला को खोया-सा ताकता रहा। फिर बड़ी धीमी आवाज में बोला—“कोई उपाय करो विमला, हम जी जायँ !”

“क्या करें, कहो ! बस, एक फटी-सी साड़ी तो सारी पूँजी है। और हों, एक जान है—एक आबरू !”

“हाय रे करम ! तो हम मरे यों ही !”—अनिल की आँखों से आँसू छलक चले।

विमला की छाती फट गई जैसे। उन आँखों के दो बूँद आँसुओं ने उसके धीरज की रही-सही भित्ति भी भुरकुस कर दी। बोली—“ना-ना, रोओ मत। तुम्हारे लिए मैं कुछ न उठा रखूँगी—जो भी हो !” और, उसने आँचल से अनिल की डबडबाई आँखें पोंछ दीं। अनिल बे-जान-सा बेसुध पड़ गया।

विमला पति के चरणों को गोद में समेट बलबल्ला पड़ी—“तो तुम्हारी भी यही मरजी है ? रहूँगी तुम्हारी सेवा के योग्य फिर ? नहीं.....ना, तुम उठ बैठो । फिर हमारा सब बना-का-बना है ।”

और, वह एक अदम्य तेज से अपने को समेटकर उठी । एक पल जाने क्या सोचती खड़ी रही । फिर, आगे बढ़ी । दरवाजे पर आई; देखा— सामने विनोदिनी छिपकी-सी खड़ी है—जैसे कान पाते किसी की आहट ले रही हो; जीजी भी वहीं किवाड़ की आड़ में सिमटी जाने क्या इशारे कर रही हैं उसे ।

‘हैं ! यह कौन है विनोदिनी की बगल में खड़ा ? इसे तो शायद देखा है कहीं ! यही तो नहीं है वह पैसेवाला पशु, जिसकी वासना की वेदी पर मेरी बलि बढ़ी है आज ? आदमी तो दीखता है भलामानस । खूँखार तो नहीं दीखता ।

‘हाँ, यही न था उस दिन, जब मैं कंट्रोल की दूकान पर धक्के खाकर गिर पड़ी—खून से लथपथ, तब इसने मेरा सर गोद में रख घाव पर पट्टी बाँध दी थी । तो आज कहाँ है इसकी वह करुणा ? ना-ना.....यह भी तो होगा बाल-बच्चेवाला आदमी ! इसकी छाती में भी तो कहीं कुछ धक्-धक् करता होगा ! मैं इसको ‘पिता’ पुकार इसके चरणों पर लोट जाऊँगी तो क्या यह अपनी पुत्री पर रहम न करेगा ? न कहेगा—उठो विमला, घबराओ नहीं; हम कोई वैसे नहीं; तुम्हारा पति तो हमारा बेटा ठहरा ! लो ये रुपए, दवा-दारू का इन्तजाम करो !..... नहीं कहेगा.....नहीं कहेगा.....?’

और, विमला का रोआँ-रोआँ जैसे पुकार उठा—‘तुम अपनी कानी उँगली से ही छू दो भगवन् ! भर दो इसमें ऐसी प्रेरणा । द्रौपदी की लाज रखने के लिए तुमने ‘बीर’ दिया, हमारी लाज के लिए इसकी छाती में स्नेह

पौ फटने को आई है । आसमान कुहरे से भरा पड़ा है ।

“कहाँ मर रही है बहू ? अभी नहीं लौटी क्या ? बच्चा रो रहा है; उसकी भी फ़िक्र नहीं !”—जीजी अँगड़ाई लेते हुए उठीं, उठते ही विमला को पुकार उठीं । अनिल की कोठरी में भाँककर देखती हैं कि अनिल के दोनों पैर अपनी छाती में दबाए वह मरी-सी पड़ी है बे-तेल के बाल भाऊ की भाड़ियों की तरह हो उसकी गर्दन और छाती पर बिखरे-से पड़े हैं । गाल पर आँसू के धब्बे अजब बराबने-से दीखते हैं । आँचल का फटा किनारा हवा से झर-झर उड़ रहा है । और, अनिल आँखें मूँद बेसुध पड़ा है—निर्लिप्त, निस्तब्ध !

बेचारी परिवार के लिए लुट गई । बंगाल के सर से यह मँडराते बादल कब छूटेंगे भगवन् !

विमला ने आँखें खोल दीं । चेतना क्या आई, एक गोली-सी आकर लगी उसके कलेजे पर ! विमला ! कल तू क्या थी, आज क्या है ! एक पल में तेरी सारी दुनिया ही पलट गई ! अब क्या तू फिर वह पाने को है जो तू खो चुकी ? यों तो तेरे सर पर सिंदूर भी है, मुँह पर पानी भी; मगर है वह तेज, है वह आब, है वह ताब ? उसकी जान तो निकल गई, रह गया कंकाल !

और विमला तड़प रही है कि उसकी मर्यादा तो गई, उसकी चेतना भी क्यों नहीं जाती ?

वह पौ क्या फटी, उसकी छाती फट गई। उसे तो अब उजेला नहीं चाहिए; वह ढूँढ़ रही है अंधेरा—अमेघ, प्रचंड, अनंत, अचिंत्य !

जीजी सर पर सवार हो गईं। उसे खोदकर उठा दिया—“अरे, ला, रुपए कहाँ हैं ?”

“रुपए ?”—विमला ने आँखें खोल दीं। कोनों पर ठमके हुए आँसू छलछला पड़े।

“हाँ-हाँ, रुपए ! मुन्नी जो गई है डाक्टर को बुला लाने।”

विमला रो पड़ी—“हाय री मैया.! धरती फटती भी नहीं कि उसमें समा जाती।”

जीजी ने आँचल से आँसू पोंछ दिए—“दुत्, जी कड़ा कर बहन, आपद के दिन हैं।.....ले, रुपए निकाल !”

“कहाँ से लाऊँ ? तुम भी नादान बनती हो !”

“लगी उड़ने ?”

“हाय रे करम ! यह क्या मरने पर कोदो दल रही हो जीजी !”

जीजी ने उसकी आँखों में आँखें डाल ढूँढ़ लिया कि वह कुछ चुरा नहीं लाई है। ऐसी बात होती तो विमला की आँखें यों आँख नहीं फाड़तीं।

“अरे, वह विनोदिनी इत्यारिन आई नहीं ? हरामजादी, आँखों में धूल भोंक रही है क्या ?....जाओ तो ज़रा ठाकुर !”—जीजी चट विशू बाबा की ओर मुड़ी—“उस विनोदिनी को ढूँढ़ तो लाओ। बैठ जाना उसके दर पर आसन मार। जायगी कहाँ वह ?”

कि विनोदिनी आ ही तो गई—“माफ़ करना बहन, ज़रा देर हो गई। विमला तो ऐसी हो गई रात.....क्या बताऊँ !”

“मारो गोली विमला की बात को ! यह तो बताओ, रुपए कहाँ हैं ?
यहाँ आग लगी है, और तुम……!”

“लो भाई, यह हैं रुपए !”—विनोदिनी आँचल का खूँट खोल लगी नोट
बॉटने—“बीस तुम्हारे, पन्द्रह माँ के और ठाकुर बाबा, यह पाँच तुम भी लो ।”

“जीती रहो रानी मेरी ! भगवान को भोग लगाए तीन दिन हो चले
ये । वही भूखे रह जाते तो जाने क्या बला आती सर पर !”

“और सुनो जीजी, ये बीस तो हमारे रहे !”—विनोदिनी ज़रा मुस्कराती
हुई दस-दस के दो नोट अपने आँचल के खूँट में बाँधने लगी ।

कौन कहे कि ‘तुम्हारा कैसा’ ? वह न होती तो आज यह सारा परिवार
किस गली में खाक छानता ? फिर भी जीजी की निगाहों की व्यंजना साफ़
कह रही है कि विनोदिनी जितनी रकम कह गई थी, उसकी आधी भी नहीं
दे रही है; मगर अपना अलग बीस ले चुकने पर वह विनोदिनी से तू-तू, मैं-
मैं करने को तैयार नहीं ।

बूढ़ी माँ से न रहा गया । बोली—“और बहू के लिए ?”

विनोदिनी चकराई । इस वार के लिए कोई ढाल चाहिए । बोली—
“जैसे कि वह कुछ लाई ही न होगी !”

“ना-ना, उस बेचारी के हाथ तो टका भी नहीं आया ।”

“जानो ऐसी भोली है वह ! अच्छा, तो लो यह अपना भी हम उसी को
दिए देती हैं ।” और दस का एक नोट उसने जीजी की हथेली पर रख दिया ।

“धन्य हो माँ, धन्य ! हो तुम हृदय की धनी !”—विशू बाबा ने चट
शाबासी दे दी ।

“अच्छा ठाकुर, तुम बस करो ।”—जीजी ने ठाकुर पर एक कड़ी निगाह

फेंक उनके उत्साह पर जैसे पानी फेर दिया; नहीं तो शायद वह विनोदिनी के त्याग की महिमा पर कुछ स्तोत्र भी सुना बैठते !

“तो माँ, वह नोट इधर तो देना । कुछ अनिल की भी फ़िक्र है ? उसके लिए दवा-दारू.....!”—जीजी ने बूढ़ी माँ से कहा ।

“तुम तो हमसे दुगुना ले चुकीं । तुम क्यों नहीं दे देतीं ?”

“सो तो है, मगर हमारे साथ एक मुन्नी जो है !”

“तो बहूवाला नोट तुझवा लो ।”

“उसे तो चावल के लिए रख छोड़ा है । दो दिन से चूल्हा नहीं जला—अँतड़ियाँ उलट रही हैं ।”

“अरे भाई, क्यों खिट-खिट कर रही हो ? लो यह दस—हम अनिल की बात भूल थोड़े ही गई थीं ? पहला हिस्सा तो उसी का है ।”

और आचारी बाबा तो ऐसे उछल पड़े गद्गद होकर, जैसे विनोदिनी ने अपना गला उतार दे दिया हो इस परिवार के लिए; मगर आँखें जो उठाईं तो देखा—सामने अनिल के कमरे के दरवाजे पर चौखट के बल खड़ी विमला एकटक देख रही है; और उस दृष्टि से चुई पड़ती है एक मर्म-मेदी वेदना की व्यंजना ।

कौन कहे, वह देख रही हो कि वह नोट का बँटवारा नहीं, उसी के शरीर की बोटियाँ लग रही हैं इन भुक्खड़ों के बीच ।

विनोदिनी उठी—“अच्छा तो हम डाक्टर को भिजवाए देती हैं । सारा काम पड़ा है घर का आज । उस जून तो आने से रही । हाँ, जीजी, एक बात कहे देती हूँ ।”.....और आँखों से शोखियाँ छलकाती लगी भुक्कड़ जीजी के कान में गुनगुनाने—“और कुछ न हो— न सही, मगर माथे पर पैसे का तेल

रख एक साफ़ धोती भी तो पहना दिया करो ऐसे मौके पर ! ऐसी फूहर-सी रहेगी तो तुम्हारी ही घटी होगी—दस की जगह पाँच पाओगी । और, अब कीमत भी तो दिन-दिन उतरी ही जाएगी न !”

विनोदिनी दरवाजे की ओर मुड़ गई । आचारी बाबा जाने क्या घुसुर-फुसुर करते पीछे-पीछे लग गए ।

विनोदिनी दरवाजे पर एक पल रुकती बोली—“हाँ, मन्त्र से साबुन भेज देती हूँ । उसकी साड़ी जरूर कचार देना !”

*

*

*

कोई सात दिन बाद ।

दिन के तीन बजे होंगे । अनिल की कोठरी से तेल की मलिया लिये विमला निकली आ रही है ।

चौखट ही पर जीजी से भेंट हो गई । वह जैसे बाट जोहती दरवाजे पर खड़ी हों ।

“आज कैसा है अनिल, बहू ?”

“बुखार तो उतर चला है जीजी, मगर कमजोरी तो अभी वैसी ही है ।”

“खर, कमजोरी तो रपता-रपता जाती है । यह तेरे हाथ में क्या है ?”

“तेल है—नारियल का । सर पर चरा मल दिया है ।”

“अच्छा किया । ला, तेरे सर पर भी थोड़ा डाल दूँ । यह क्या चिड़िया का घोंसला बना रखा है तू ने सर को ?”—जीजी विमला के हाथ से वह मलिया लेती हुई बोलीं ।

“रहने भी दो जीजी, ऐसे ही क्या बुरा है !”

“चल, हट ! आई है……!”

“वे उठ बैठें, तो देखा जायगा ।”

“अब उठने में देर क्या है, भल्ला ! बुझार तो उतार पर आ ही गया । जवानी का सिन है—रोग गया कि उठ बैठा । तेरा यह विधवा का-सा झोटा लिये फिरना हमसे तो देखा नहीं जाता । एक फूटा-सा आईना भी होता तो खुद तू.....”

“अब तो अपने को सधवा कहने में भी शर्म आती है, जीजी !”

“कहती क्या है ! अपने स्वामी की खातिर अपनी शर्म को लुटाकर तूने सती की शर्म को भी शरमा दिया जैसे—यह कोई ऐसा-वैसा कमाल नहीं बहू ! जानती है न, गोपियों का कुल-त्याग ही गोपियों का तिलक हो गया । है कोई ऐसी कुलवती, जो उन कुलटाओं की पाँति में खड़ी हो सके ?..... देख तो सही, कितना धरम किया तूने ! न करती तू इतना, तो आज कहाँ होता अनिल—कहाँ होती तू—कहाँ होता कोई ? पेट की आग में जल-भुनकर एठ न गए होते सब-के-सब ?”

विमला को लिये जीजी ओसारे के एक कोने में बैठ गईं । लग्गी उसकी लटें सुलझाने ।

“क्या करती बहू, बाजार से एक सस्ती-सी साड़ी मँगा ली है । तेरी यह फटी चिथड़ी तो देखी नहीं जाती । है भी उसमें कोई परदा बाकी ?”—और वह एक तरह से विमला को गोद में ले लग्गी उसकी लटें खोल, कंधी करने ।

“काम सारा पड़ा है । उनके लिए दूध गरम करना है; फिर बरतन हैं —चौका-पानी है ।”

“सो मुझी कर लेगी बहन ! वह कुछ दूध-पीती बच्ची थोड़े ही है ! और तू कोल्हू का बैल नहीं कि खटती रहेगी रात-दिन । हम भी तो आजकल

बे-काम-धाम की जाने कैसी हुई जा रही हैं ।.....अरी ओ मुन्नी ! कहाँ सर रही है री मुँहजली ? मामा के लिए ज़रा दूध तो गरम कर दे !”

“अभी आई माँ ! मामी की धोती कचार रही हूँ ।”—मुन्नी पिछवाड़े के नल पर से बोली ।

“अरे, उसे वसंती में रंग देने को कहा था न ?”

“हाँ, नानी घोल तो रही हैं रंग !”

हाय राम ! आज क्या है जो घर का एक-एक प्राणी यों उसकी सुख-सुविधा के लिए लहू-पसीना एक कर रहा है ? फूल-शय्या की रात भी जीजी ने इस तरह उसे गोद में ले उसके सर पर स्नेह-भरा हाथ न दिया था । आज तो कहीं उसके पैर टटाएँ तो माँ भी शायद हाथ की माला रख दौड़ आएँगी मुक्कियाँ लगाने ! बराबर तो वह ‘गरीब की बीवी, सब की भाभी’ रही । जब जिसके जी में आया, दुल्लितियों भाड़ दीं । आज यह आदर, यह दुलार, यह प्यार ! तो क्या “जौ लौं काग सराध पख, तौ लौं तव सनमान !”

और आँसुओं में डूबी विमला की आँखों में तिर रहा है—गाँव की काली मैया का मंदिर । कुआर की अष्टमी ।... ..पुजारी बाबा खस्सी को गोद में ले चने खिला रहे हैं । माथे पर सिंदूर और गले में माला डाल लिये जा रहे हैं बलि की वेदी पर !

और सहसा वह पूछ बैठती है—“तो आज हमें फिर मरने जाना होगा क्या, जीजी ?”

“क्या करोगी—चारा ?..... अनिल चंगा हो गया, तो फिर एहस्थी सँभलते क्या देर लगेगी ?”

“मगर रुपए तो तुम्हें.....”

“क्या बताऊँ बहू, भला जलते तवे पर दो बूँदें ! इस दस-बीघ से क्या होने-जाने को है ? अभी तो जाने किस किसका उधार-पधार है सर पर । कुछ पता भी है—चावल कितना चढ़ गया है आज-कल ? कभी बाज़ार में जाती तो आटे-दाल का भाव मालूम पड़ता । चावल तो ख़ैर, है ही—यह कोयला, चीनी, नमक और तेल—एक-एक काफ़ी है किसी की बनी-बनाई गृहस्थी को चकनाचूर कर देने के लिए ! हम किस खेत की मूली हैं भला ! भगवान जाने कब हमारे दिन पलटेंगे !”



सुबह के सात बज रहे होंगे । विमला ओसारे के एक कोने में मुँह छिपाकर गद्दी-सी अनिल की एक फटी कमीज में पट्टियाँ लगा रही है । माँ की पीठ पर लल्ला रें-रे कर रहा है मिठाई के लिए—आँचल भटक देता है, भिड़कियाँ खाता है और ठिनकने लगता है ।

तभी जीजी जाने कहाँ से बलबलाती हुई, अंदर दाखिल हुईं । आते ही जैसे विमला पर बरस पड़ीं—“हाँ री बहू, बता तो रात कितने दिए उसने ?”

और विमला के कानों में जैसे किसी ने उबलता सीसा उड़ेल दिया । वह तो स्याह हो गई—“हम क्या जानें, भाई ?”

जीजी भुन गईं—“यह सुनो ! कमाया तू ने, जानें हम ! वही हाल—जात भी गई, हाथ भी कुछ न आया । . . . बाप रे, ऐसा अंधेर ! शरीफ घर की बहू, यह चटक रंग ! लाख नहीं, हजार नहीं, मुदा दो सौ पर ही यह लुका-चोरी ! हम रहतीं तेरी जगह तो वह नाकों चने चबवातीं कि बम ! . . . हो-न-हो, वह खानगी, आधी रकम हड़प गई है । लाज-शरम पी उसके घर भी गई तो भेंट नहीं । नवाब की बेटी अभी पल्लंग-कमरे में सो रही है । क्यों री बहू, तुम्हें तो नहीं दिए हैं उसने सौ-पचास ?”

“जो कुछ दिया होगा, वह खूँट में बँधा है ज्यों-का-त्यों । हमें तो वैसा पता भी न था । यहाँ आधी रात पहुँचाने आई तो कह गई कि आँचल के

खूट में बीस रख दिए हैं—देख लेना ।” और, विमला ने आँचल का खूट खोल दिया । पाँच-पाँच के चार नोट निकल आए ।

“तो खुद रखेगी इन्हें ?”

“ना जीजी, हमें नहीं चाहिए ।”

“भला रख भी तो । कोई काम आ पड़ा तो ले न लूँगी ? अनिल की दवा और संतरे तो भेगा ले चटपट ।.....अच्छा, आए वह मुँहजली, तो बताती हूँ उसे.....”

बूढ़ी माँ बैठी माला फेर रही थी । उनके कानों में यह भड़प की आवाज गई तो वह ठुप्-मे बोल उठी—“ना भाई, यह भगड़ा-भंभट ठीक नहीं । जो वह देती है, उसी को लेकर छुट्टी करो । कहीं बुरा मान गई तो...?”

विनोदिनी मकान के अंदर कदम रखते ही ताड़ गई कि हवा का रुख बेढंगा है ! फिर भी थी वह एक चौतालिया ! पुट्टे पर भला हाथ रखने देती ? बोली—“हमारी कौन ऐसी आँत जल रही है बहन, कि हम तुम्हारे घर में मेंध देने जाएँगी ? वह कभी रसने को है हमको ? हमको तो जो उसने दस-पाँच खुशी से दिए, थाम लिए । और, कहो तो वह भी रख दें । तुम्हारे पुरोहित ठाकुर ने भले एक खासी रक्कम कमा ली होगी अबतक !”

“विशू बाबा ?”—जीजी ने आश्चर्य से मुँह फाड़ते हुए पूछा ।

“और क्या !”

“अरे, वह मुआ कैसे घुस पड़ा वहाँ ?”—जीजी के तेवर पर बल आ गए ।

“हमारा नाम न लो तो कहें । हम किसी ब्राह्मण-देवता से थर-थर काँपते हैं भाई ! तुमने उस दिन सबेरे हमें ढूँढ़ने जो भेजा था, याद है ? बस,

वह ताड़ गया कि वह एक नया कौन है हमारे यहाँ—जो इतना तबके बाहर जाने के लिए रिकशा ढूँढ़ रहा है ? चट गले पड़ गया । आशीर्वाद के फूल दिए, तो कुछ पा ही गया बेचारा । कल शाम ही से इर्द-गिर्द मँडराता रहा—टक लगाये । भेंट हो गई, तो हाथ खाली तो लौटनेवाला नहीं । हमारा तो खयाल है कि आज हम न रहीं तो वह विमला की दलाली भी कर ले तो कोई अचरज नहीं । यह सब दिया-दिलाया तो उसी मद में न जोड़ता है वह ! अच्छा, यह लो—बीस और रहे तुम्हारे । हम तो चाहती रहीं कि वह पूरा सौ कर दे, मगर उस बेचारे का भी सोलहो आना कसूर क्या ! और तुम समझती हो कि जैसे हमी ने रोड़े अटका दिए ! भला तेली का तेल जले और मशालची की छाती फटे ?”

यों बातें बना वह उधर घर गई और इधर एक छोटा-सा कुरुक्षेत्र उतर आया आँगन में !

माँ और बेटा—दोनों के तन में आग लग गई जैसे । गौं पातीं तो कच्चा चया जातीं ब्राह्मण-देवता को । पैसे के लिए बाप-बेटे में छुरी चल जाती है । परिचय का संबंध लाख गहरा क्यों न हो, वह क्या ताव लेगा जब चाँदी की चोट ने मन में खटाई डाल दी !

जीजी ने टोका—“ठहरो माँ, ऐसे वह नाम न लेगा । उसे किसी चाल से थोड़ी देर के लिए चलता करूँ तो फिर उसकी तलाशी होगी ।”

और बस, जीजी ने विशू ठाकुर को चावल लाने बाज़ार भेज उनकी भोली-गठरी की तलाशी शुरू कर दी । पूजावाली भोली के अंदर, जिस डिब्बिया में शालिग्राम की मूर्ति थी उसी में, एक दस का नोट मिला ! इस पर मुन्नी ने कहा कि नल पर नहाते वक्त कल अपनी टेंट से एक-आध ऐसे

ही कागज के टुकड़े निकाल चबूतरे के कोर पर रख छोड़े थे विशू बाबा ने, फिर नहाने के बाद उठा लिये !

यह लो, यह जले पर नमक ! भला अब जीजी के पेट में पानी पचता ?

चावल की पोटली बगल में दाबे ब्राह्मण-देवता बाजार से लौटे नहीं कि जीजी फट पड़ीं एकबारगी ।

इस अनायास आक्रमण के लिए वह तैयार न थे । होश पैतरे खा गए— हवाइयों बिगड़ गईं । और कुछ न सूझा तो साफ़ मुकर गए । लेकिन यहाँ हथियार सँभाले बैठी थीं जीजी—चट इधर से नोट पेश कर दिया ! यह देख कि उनकी सँजोई हुई पूँजी दुश्मन के कब्जे में पड़ गई है, वह एक-बारगी उखड़ पड़े । नंगा-भारी देने की तलबी हुई, तो हाथ में जनेऊ थाम शाप देने पर आ गए । वह उछल-कूद शुरू की कि एक हंगामा-सा खड़ा हो गया ।

जीजी बल खाती हुई बोलीं—“रखो भी यह बंदरघुड़की ! यहाँ ऐसी-वैसी नहीं । जो लिया सो लिया, अब घर का रास्ता पकड़ो ।”

“आखिर, तुमसे यह बात कही किसने ? नहीं बताती, तो लो, बस, अभी दाना-पानी त्याग यहीं शरीर छोड़ देंगे ।”

विनोदिनी का नाम लेने की तो हिम्मत यहाँ किसी में थी नहीं । किसी और के सर मढ़ना चलता भी नहीं । बस, बची एक बेचारी विमला । वह बकरे की माँ कब तक खरै मनाती ? चलो, उसी के सर बीते ! जीजी धीरे से उसका नाम ले घर में चलती बनीं !

इधर विमला उस तुमुल ले-दे से घबराई हुई किवाड़ की ओट आ लगी थी । साथ ही, उसे डर समाया कि कहीं बात बढ़कर अनिल के कान में जा

पत्नी तो फिर उसका उतरा हुआ ज्वर दुबारा धावा बोल देगा । सारी बनी-बनाई पल में लुट जायगी ।

पुरोहित ठाकुर की निगाह विमला पर जो गई, तो एकबारगी आग हो गए । जो न कहने को वह सभी उगल पड़े—शाप देने को जनेऊ तान लिया ।

विमला टूटी लता की तरह पैरों पर आ गई । रुँधा कंठ फूट पड़ा—
“तुम्हारे पैर छूकर कहती हूँ बाबा !—बेटा काम न आए—जो हमने कुछ कहा हो !”

“अरी वाह ! तो फिर किसने कहा ?—विनोदिनी तो नहीं जब गई—जैसी हरामजादी है वह !”

“क्या जाने बाबा, अभी दस मिनट हुए होंगे कि वह जीजी के पास ”

“तो वही बिछौतिया है जानो—सात सिंघोरेवाली । जा इत्यारिन ! तेरे कीड़े न पड़े तो मेरा नाम विशू ठाकुर नहीं—हाँ ! मेने तो कान पकड़े जो तेरे घर भोंकने भी जाऊँ । अच्छा, मैं तो गाँव चला बहू ! वह राँड़, तेरी ननद, भतार खाकर भी पेट न भरा उसका, तो मेरे दस रुपए पर दाँत गड़ा दिए उसने । तुम्हीं कहो, मैं मृत्युञ्जय का जप न करता, तो अनिल के सर पर मँडराते ग्रहों के दाँत टूट पाते ? शनिश्चर की महादशा कोई ऐसी-वैसी नहीं होती ! तू भी अब तक उसी की गत पा गई होती । मगर भाई के लिए उसकी छाती में जरा भी दर्द है ? कहाँ जप की पूर्णाहुति होती और गरीब को दक्षिणा मिलती, कहाँ मेरे ही रुपए.....यह ब्राह्मण का रोआँ कलपाना बिरथ जाने को है कभी ?”

“लो बाबा, यह रही तुम्हारी दक्षिणा भी, जी छोटा न करो अपना ।”—

विमला बची-खुची पूँजी, वह नोट, पाँव पर रखकर बोली—“उन्हें जी से आशीर्वाद देते जाओ कि जल्द चंगे हो जायें।”

और ब्राह्मण-देवता एकबारगी ठंडे पड़ गए। फिर बोले—“हाँ, बहू, ब्राह्मण का आशीर्वाद कभी विफल नहीं होता—हमारी पूजा व्यर्थ नहीं होने की। जानो तुम्हारा पति तुम्हें लौट आया बहू! सीता-सावित्री भी जिस त्याग की ऊँचाई को नहीं छू सकीं, तुम उसे छू आई हो। यह देहाभिमान के ऊपर उठना कोई खेल है? धन्य तुम्हारी निष्ठा और धन्य तुम्हारी सेवा!”

विमला भी आशीर्वाद पा, गल गई—“यह दो रेल के खर्च के लिए भी रख लो। बस, इतनी ही विनती है कि यहाँ की बात गाँव में।”

“भला, हम ऐसे छुच्छुम हैं बहू! देवता तो जान ही नहीं सकता, आदमी की कौन बिसात?”



तीन बजे होंगे; मगर लग रहा है, जैसे संध्या उतर आई ! बादल जाने कहीं से इतने घने हो रहे हैं ! आसमान हो रहा है मटमैला । बूँदें टिपटिपाती हैं, थमती हैं, फिर झूमकर झमक पड़ती हैं !

जीजी कहीं बाहर से भीगती आई ! ओसारे में एक फटी-सी चटाई डाल लेट गईं ।

“जरा सर टीप देना बहू ! जाने क्यों माथा टनक रहा है ।”

जीजी का सर गोद में ले विमला टीपने लगी ।

“यों हेली-मेली तो जाने कितनी हैं बहू ! पर, अपना सब कुछ जोखिम में डाल जो मौत के मुँह से खींच लाई, आज वही एक अपनी ठहरो, बस ।”
—और उन्होंने एक गहरी साँस ली ।

थोड़ी देर बाद स्नेह से विमला की ठुड्डी सहलाते हुए फिर छेड़ा—
“मगर भाई ! यह आज तुम्हारी क्या जिद है ?”

“सो क्या जीजी ?”—विमला के हाथ क्षण-भर को रुक गए ।

“यही कि मझधार से नाव निकालकर अब किनारे ला चुकी तब उसे डूबने दोगी क्या ? बस, आज-भर हिम्मत कड़ी रख पतवार हाथ में.....”

“मगर हमीं जो डूबी जाती हैं ! तुम्हें पता नहीं, रात में उठ-उठकर डूँदते हैं वह अब । यह, वह—एक-न-एक बात लगी ही रहती है बराबर !”

“वह क्या बात है, जरा सुनूँ भी !”—जीजी ने तुरंत होकर पूछा और तनकर बैठ गईं ।

“सर टीपा, सुपलियाँ सहलाई’, पंखा फूला; मैं क्या सो पाई हूँ किसी रात इधर ?”

“खैर, हमने तो सोचा था कि बस, एक पखवारे के लिए भी चावल-दाल रख लेतीं तो छुट्टी पा जातीं ।”

“आखिर दस-पाँच तो बच रहे होंगे ! एक जून खाकर भी काट लिया जा सकता है तब तक !”

“यह तो ठीक है, मगर यह डाक्टर की दवा का क्या होगा ? क्या किया जाय, चारा नहीं ! दसगुनी कीमत पर आती है, वह भी लाख चुप्पा-चोरी । अपने तो बाजार जाने से रहीं । विनोदिनी के उस नौकर से ‘बाबू-मेरे, भैया-मेरे’ कह मँगाना पड़ता है । वह भी कुछ दलाली ले ही लेता होगा—कैसी चियाँ-सी सूरत है उसकी !”

“हाँ, आज वह हमसे पूछते भी रहे कि बाजार का जब यह हाल है तो यह एक-आध महीने बीमारी में गृहस्थी कैमे सँभली ?”

“अच्छा, तो क्या कहा तुमने ?”

“कहती क्या ? कह दिया कि माँ के पास कोई एक पुराना गहना बच रहा था, वही बेचकर जैसे-तैसे कट गया—कट रहा है । अब आगे नहीं चलने को ।... ..तो वह बड़ी फिक में पड़ गए । आँखें भर आईं । क्यों, कुछ बुरा तो नहीं कहा ? कहो भला !”

“ठीक ही कहा—बहुत ठीक । अच्छा, तो अब जी कड़ा कर.....”

“ना जीजी, हमसे अब यह न होगा—नहीं होगा—उहूँ ! तुम्हारे पैरों पड़ती हूँ । वह दफ्तर के बड़े बाबू को अर्जी लिखकर डाक में देंगे । जाने कैसा कोई फंड है, उसी से दो सौ कर्ज लेंगे । महीने-महीने तनखाह से दस-बीस कटकर चुकता हो जायगा ।”

विमला की आवाज़ में दृढ़ता का आभास पा जीजी का चेहरा उतर गया। मगर इतने ही में कमान हाथ से रख देने को वह तैयार न थी। सास की बात टाल न पाएगी, यह सोच आखिरी जोर-आज्ञादाश के लिए माँ के पास चली।

बूढ़ी कुछ दूर तो थी नहीं। आँगन के एक कोने में टूटी खाट पर लेट रही थी। हाथ में माला, मुँह में राम-नाम; पर कान थे विमला के जवाब पर और आँखें थीं उसके चेहरे के उतार-चढ़ाव पर।

जीजी सधर ज्यों ही मुझीं कि बूढ़ी हाथ की माला सर से छुलाती हुई बोली—“बहू, जरा इधर तो सुनो !”

विमला सास की ओर झुकी, और बूढ़ी ने शुरू किया—“हाँ री बहू, सब कर-करा के यह क्या ले बैठी है आज तू ?”

“माँ, आप ही जरा सोचो तो……”

“ना-ना, बात न मानेगी, तो……हाँ ; अच्छा न होगा।”

विमला का लहू खोल उठा—“क्या अच्छा न होगा ? राम-राम ! यह नरक में ठेलाठेली ! कहीं का रखा तुमने हमको ?…… यह लो ! सुनो, वह पुकार रहे हैं—तुम बात न मानती थीं !”—और ‘आई’ कहती हुई विमला अनिल के कमरे की ओर दौड़ पड़ी।

“जाने भी दो माँ, अब वह नहीं जाती। क्या होगा ? जैसे-तैसे कच्चा-पका खाकर चोला पाल लेना है दस दिन और।”

‘या भगवाम् ! कब तक ये बादल छँटेंगे सर से ?’—कहकर बूढ़ी भी चुप हो गईं।

विमला का तो यह ढाल है कि जीने को जी नहीं, पर जिये जा रही है बेचारी ।

अनिल चंगा हो उठा । वह महँगी और तंगी की लपटें भी लगी सीरी पड़ने । मगर उसके अंदर तो जाने क्या टूट गया है कि वह पनप नहीं पाती । वही अनिल है, वही लल्ला ; मगर वह जो 'वह' नहीं रही—वह हँसती-खेलती विमला !

वह तो जाने क्या चुराये चल रही है उससे कि उसे चैन नहीं । जैसे एक नशा-सा छाया रहता है बराबर—एक आलस बना रहता है दिन-रात । वह जी नहीं, वह फुर्ती नहीं, वह चुस्ती नहीं । बैठी है तो बैठी ही है, खड़ी है तो खड़ी ही है, सोई है तो सोई ही है—जैसे कि कुछ सोच रही है, कुछ मलमल रही है, कुछ समझा रही है अपने-आपको ।

और अदर-ही-अदर घुल रही है बराबर । रोटी तवे पर पक्की है, फेरने की सुध नहीं ! दाल बिनने बैठी, और दाल और कंकड़ एक कर धर दिया !

बस, एक चिंता आठों पहर बनी है । जाग रही है तो साथ है, सो रही है तो सिरहाने बैठी है ।

एक वह दिन था कि लटों के वितान पर जाने क्या-क्या गुल-बूटे काढ़ती । एक आज है कि चोटी करने बैठी भी, तो न कंधी है, न चोटी ।

बहुत हुआ तो अनिल के इसरार पर ज़रा यों ही सँवर लिया— वह भी ऐसा कि जैसे बेगार टाला ।

अपना न उछाड़ है, न उमंग । बस, एक रस्म की तामीली भर रही—
जी की खुशी नहीं ।

जीजी एक दिन टोक ही बैठीं—“यह तुम्हें हो क्या गया है बहू ?”

“क्या जीजी ?”

“क्या बताऊँ, क्या ! आईने में जाकर देखो कि तुम क्या-से-क्या हो गये हो आज !”

विमला चुप ।

“हमें तो डर लगता है कि कहीं कोई रोग तो नहीं घर बना रहा है तुममें ? यह दिन-दिन सूखते जाना !”

“जीजी, विमला तो मर गई—जी रही है उसकी लाश !”—लंबी-गहरी साँस लेकर विमला बोली ।

“दुत् पगली ! मरे तेरा दुश्मन !”

“वह याद जो बनी रहती है, जीजी !—एक काँटा-सा चुभता रहता है कलेजे में ।”

“अरे, वह एक दुःस्वप्न था । उसे भूल जाओ । गड़े मुर्दे को कुरेदने से फायदा ?”

“मगर मैं भूल भी तो नहीं पाती हूँ, जीजी ! यह विनोदिनी जो घूम-फिरकर जैसे सोई याद जगा जाती है ।”

“अच्छा ठहरो, दिन पलटे तो अनिल से कहूँ कि कोई दूसरा डेरा देखे । क्या बताऊँ, आजकल जैसा दिन आ गया है कि किराया भी दसगुना बढ़

गया है। यह तो कहो कि बरसों से अनिल इसी डेरे में रह आया है, जिससे मकानवाला कुछ ज़्यादा चीं-चपड़ भी नहीं कर पाता। नहीं तो इस शहर में हम-जैसे गरीबों की गुज़र कहाँ होता भला ?”

“तुम्हारे पैरों पड़ती हैं, जीजी ! कहीं दूर निकल चलो यहाँ से—चाहे जैसे भी। एकबारगी जी जाने कैसा हो गया है—क्या बताऊँ ?”

“मगर कहीं भी जाओगी, तुम्हारा यह जी तो साथ ही होगा न !”

“वह विनोदिनी जो साथ न होगी ! जैसी है वह, तुम देख नहीं पाती क्या ? डूबकर पीती है जाने कितने घाट का पानी, और बनती है बड़ी पानी-दार जैसे ! हमें भी बोर गई साथ-साथ ।”

जीजी भुन उठीं। बोलीं—“क्या करोगी, आज की नई रोशनी और है क्या ? हम हर किसी को अपनी ही नज़र से देखते हैं, यही भूल है। तुम्हारी नज़र और है, उसकी और। वह जीवन की सफलता भोग में—विलासिता में—ढूँढ़ती है; तुम ढूँढ़ती हो त्याग में, सेवा में। हम अपनी परंपराओं में कैद हैं; वह आजाद है। तुम संयम का दम भरती हो; अनियम ही नियम है उसका। तुम्हारी दुनिया और, उसकी और। और, वह अपने लिए जैसी भी हो—हमसे शरज ! हम काहे को किसी की तलाशी लेतां फिरेंगी भाई ? यह शहर है कलकत्ता। यहाँ तो क्या पाप है, क्या पुण्य—पता नहीं। सब घिचपिच है यहाँ। ख़ैर, जैसी भी हो, हमारे लिए तो वैसी बुरी नहीं। जब-तब हमारी खोज-ख़बर लेती रहती है आज भी। यही देखो न, परसों एकाध घंटे हारमोनियम पर गा-बजाकर अनिल का जी बहला गई।”

“सो कब ?”

“तुम न थीं क्या ? ओ, गई होगी दवा लाने बाज़ार।” बेचारी अनिल

के लिए थोड़ा दूध अपनी गाय का रोऊ भिजवा देती है—यही क्या कम है ?”

“वह तो ग्वाला दे जाता है !”

“वह ग्वाला नहीं, उसीका कोई है—नौकर या जो हो । ग्वाला दे जाता, तो अब तक दाम के लिए तकाजा न करता ? तुम आजकल हो भी अपने में जो कुछ देखो-भालो घर का ! उस दिन दूध लिये वह खुद आई, तो अनिल पूछ ही बैठा कि ‘यह कहाँ से एक नई सहेली ढूँढ़ लाई हो तुम जीजी ! बच्ची धुल-मिल गई है तुम सबसे ।’ हमने कहा कि ‘यहाँ पड़ोस की है, सुख-दुख में साथ दे जाती है जब-तब’ ।”

“चाहे कुछ भी कहो जीजी, हमारा तो जी नहीं उटता उस पर ।”

“भला तुम्हारा क्या बिगाड़ है उसने कि यों खिंच गई हो उससे ?”

“बिगाड़ने को बाकी ही क्या रखा उसने जीजी ?”

“छिः ! इतनी जल्दी किसी का एहसान नहीं भूलते ! वह न बनाती, जैसे भी सही, तो कब की तुम्हारी माँग धुल गई होती ! हम भी दीदे धो मुन्नी को चलतीं कहीं खपा देने ।”

“तुम्हारी भी क्या बातें हैं ! मुन्नी जैसे……”

“सच कहती हूँ, उसे मरने न देती सबक की पटरियों पर दाने बगैर, न खुद गले में भीख की भोली बाँधती । वह सिख ड्राइवर जो है पड़ोस में, उसी को सौंप देती । न सही अपनी जात, मुन्नी को सुख से तो रखता । हमारा भी गुजर हो जाता जैसे-तैसे ।”

“मगर जीजी ! कहाँ मुन्नी कुल बारह साल की बच्ची और कहाँ वह तीस साल का मुस्टंड ?”

“जो हो, आदमी सब कुछ सह लेता है—एक भूख नहीं सह पाता ।

पता भी है तुम्हें, आज बंगाल की कितनी बहू-बेटियाँ पंजाब में जाकर बस गई हैं पेट के लिए ?”

विमला चुप । उसे याद हो आई—उन दिनों उसने जीजी को उस सिख ड्राइवर के इर्द-गिर्द मँचराते देखा था ।

‘वही कहती हूँ, बहू ! आज इस अकाल में कौन क्या कहता है, क्या नहीं—हमारी समझ के बस की बात नहीं । अब वह किताबी पाप और पुराय इस जमाने में लागू नहीं । यही लो, एक वह है कि दस के पास जाकर भी उसके चेहरे पर शिकन नहीं । कैसी गुलफुल है वह ! एक तुम हो कि एक जरा-सी बात क्या हो गई—उस घड़ी, जब कोई अपने में न था, वह भी पति के लिए, परिवार के लिए—कि तुम्हारा दिल ऐसा बैठ गया है कि उठने का नाम नहीं लेता । तुम अच्छी कि वह अच्छी ? कभी सोचा भी है तुमने इस पर ? वह पाप ढोए चलती तो ऐसा चेहरा हँसता रहता उसका ? और तुमने एक धर्म निबाहा उस आपत काल में ; मगर कुछ ग्लामख्यालियों के फेर में उसे खामखाह अधर्म मान अपने को घुलाए जा रही हो सोच-सोच रात-दिन । तुम मन में यह पाप का हौआ क्या पाल रही हो बहू ? आज तो लगता है कि न उसकी पहचान होती, न जान आकृत में रहती । जो आज उसे पहचानता नहीं, उसकी परवा नहीं रखता, उसे वह सता भी नहीं पाता । हमारा तो ख्याल है कि जो डरा, वह डूबा ।”

“अपना-अपना संस्कार है ; और क्या कहें !”

“तो चलो मंदिर । माँ जा रही हैं दर्शन को । तुम्हें कोई सहारा मिलने को होगा तो वहीं मिलेगा । पाप मानती हो तो पापहारी भी मानो ! यही भय

पैदा कर कर तो शायद भयमोचन का कारोबार चला । उस भयहारी भगवान् के चरणों पर रो-धो लोगी तो तुम्हारा जी हल्का जरूर हो जायगा ।”

“क्या जाऊँ जीजी, भगवान् ने हमको कहीं का भी रखा आज ? कभी जो हमने उनकी पूजा में चूक की हो !”

“तो क्या हुआ, तुम्हारा हरा-भरा संसार ज्यों-का-त्यों लौट आया । फिर भी यह शिकायत ?”

“हाँ, लौट तो आया, मगर कितना नरक मेलकर !”

“भगवान् को भी अपना संसार संभालने के लिए दस मास गर्भ में संडास की यातना मेलनी पड़ी थी—भूल गई ? उपाय को न देखो, उद्येश्य को देखो । जब साध्य शुद्ध है तो फिर साधन कुछ भी हो—परवा नहीं । ऊँच-नीच किसी भी रास्ते से अपनी मंजिल को पहुँच गईं, बस !”

“मगर जीजी, यह दाग जो धुलने को नहीं ।”

“पगली हुई जा रही हो तुम भी ! यह दाग तो तुम्हारे मन का है । और उस मन का कोई इलाज नहीं । न आदमी के हाथ, न किसी देवता के हाथ । मगर हाँ, तुम्हारे हाथ जरूर हैं, और जब तुम्हीं हो रही हो उसके हाथ, तो फिर हो तो क्या हो ? शरीर से न कोई पापी होता है न पुण्यात्मा ; होता है अपने जी से ही । याद है न गुरु महाराज की वह बात कि कोई शरीर को लाख शुद्ध रखे, आठों पहर राम-नाम भी रटता रहे, मगर हृदय के अंदर वासना ज्यों-की-त्यों बनी है, तो वह कभी साधु-संन्यासी नहीं, एक ढोंगी है—घोर विषयी । और कोई वेश्या रोटी के लिए शरीर का धंधा करती है और आँखों में लाख हाव-भाव का बाजार बसाए रहती है—फिर भी रोजगार की पाबंदियों के अलावा उसके अन्दर न वैसी वासना है,

न छलना ; तो फिर वह कुलवती चाहे न हो, पुण्यवती तो जरूर है। उसे हम संन्यासिनी भी कहें, तो कोई वैसी बात नहीं ! समझीं ?” तो बस, सारा खेल है मन का ! तुम्हारा यह डॉवॉडोल मन बेकार हाय-हाय कर तुम्हारे उस त्याग के आत्म-प्रसाद को तो खा ही गया, तुम्हें अब आत्मघात के पाप की ओर लिये जा रहा है तिल-तिल ! मन से त्यागी, मन से विषयी। परिवार को मौत के मुँह से अपने शरार की सारी सत्ता लगाकर खींचने में तुम पर जो खुरच आई, वह खुरच तो रण से लौटे एक विजया सैनिक के घीने पर तलवार का घाव है विमला ! वह क्षत, वह चिह्न तो उसके अलौकिक साहस साहस और वीरता का गौरव-पदक है आज। मगर अफसोस ! तुम्हारा पागल मन, बस, उस क्षत के दाग को देखता है, उसके अक्षय सुहाग को नहीं !”

विमला मंदिर गई। प्रतिमा के चरणों पर अपने को उकेलकर धर दिया। खूब रोई। रोकर उठी, तो जैसे एक बोझ उतर गया उसके मन से। उसके मुख पर मुस्कान की एक रेखा-सी खिंच आई। वह आशीर्वादी फूल की माला उसके गले में आई, तो जैसे रहमत की फुहियाँ बरस गईं उसके कलेजे पर। वह तपिश की आँच ठंडी हो चली।

जीजी के साथ रिश्वे पर वह घर लौटी। अन्दर कदम पड़े होंगे कि देखती है—विनोदिनी अनिल के कमरे से अजब अदा से इठलाती निकली आ रही है। बस, जी धक्के से हो गया।

भौंककर देखा—अनिल जाने क्या बड़े चाव से खा रहा है।

“यह क्या दे रखा है खाने को भाई ?” विमला ने विनोदिनी से पूछा।

“क्या बतलाएँ, घर पर चंद कटलेट बने थे। एकाध जने आनेवाले थे।

मगर जब कोई नहीं आया तो सोचा, चले तुम्हारे यहाँ कुछ दे आएँ—किसी

के काम तो आ जाय ! तुम्हारे लिए भी उस ताक पर रख दिया है एक !”

“हम तो खार्ती नहीं कभी ।”

“मछली भी नहीं ?”

“सो तो यहाँ कलकत्ते में सपना हो गई है ।”

“अच्छा, दम धरो । मछली की कचौरियों खिलाऊँगी किसी दिन ।”
जानती हो, मैं आई थी तुम्हें ढूँढ़ने ।”

“हमें ?”

“हाँ-हाँ, तुम्हें । देखो, यह क्या है ? पहचान लिया ?”—उसने आँचल के खूँट खोल जाने क्या एक काँटा-सा निकालकर दिखाया ।

विमला दरवाजे पर ही ठिठक गई । जीजी चली गई अंदर ।

“नहीं पहचानतीं ?” सच ? अरी वाह री मेरी भोरी ! अपनी चीज आप नहीं पहचान पातीं ?”

विमला नजदीक सरक आई ।

“यह तो बाल का काँटा है । हमारी चीज कैसी ?”

इधर-उधर देख विनोदिनी साँसी में बोली—“वह जो उस रात गई थी हमारे यहाँ, तुम्हारे जूड़े से गिर गया था चारपाई के नीचे । तुम आपे में थीं भी कि देख पातीं ! सुबह जो हम गई उस कमरे में जाने क्या ढूँढ़ने, तो देखा, यह एक काँटा जमीन पर गिरा है । उठाकर ताक पर रख दिया । सोचा था, तुम्हें दे जाऊँगी । पर कभी जो याद आया होता कमबख्त ! आज जाने कैसे नजर पड़ गई । बस, लेती आई । लो भाई, अपनी चीज !”

उसी दुखद अतीत की यादगार ! विमला को काटो तो खून नहीं । वह तो जब उसके घर गई, बेहोशी में गई; बेहोशी में लौटी । क्या पहना, क्या

नहीं पहना—इतना होश था उसे ? हो-न-हो, जीजी ने बाल सँवार दिए तो कोई कौंटा भी पिन्हा दिया होगा ।

विनोदिनी तो कौंटा थमाकर लौट गई । खोई-सी विमला ने हाथ बढ़ाकर उसे थाम भी लिया और जैसे सोते से जाग एक झटके से उसे नाली में फेंक भी दिया ।

मगर मन से तो वह कौंटा निकला नहीं ! ज्यों-ज्यों उसे निकालना चाहा, त्यों-त्यों वह चुभता गया उसके अंदर । कहाँ बेचारी मंदिर से गुलफुल आई थी, कहाँ आते ही कौंटा हो गया उसका मन ।



अनिल ऊब गया विमला से जैसे । विमला तो वह विमला हो नहीं पाती । न बोलती, न हँसती ; न रूठती, न फूलती । न होंठ पर मुस्कान, न भौं पर तेवर । न चुनाचुनी, न तनातनी । न कोई हवस, न फरमाइश । न सही प्यार, तक्रार भी होती तो एक बात होती ! जब देखो, तब जैसे बादल छाए हैं । पर वह गुमसुम ऊमस, कि बस । न कड़कना, न बरसना; न पछैया, न पुरवैया !

वह उसमें जिस मौज को ढूँढ़ता, वह तो दिल की सहज अँगड़ाइयों की लहर है । आज वह अँगड़ाई थी कहाँ उसमें ? किसी और की आँखों में वह धूल चाहे जो डाल दे ; अनिल की आँखें, अनिल की बाँहें जिस प्राणप्लावी पुलक, जिस उच्छल उन्माद को ढूँढ़तीं, वह तो बनने-बनाने से नहीं, होने से उठता है—जैसे मलयानिल की मौज से मुकुलों का अनायास खिल उठना !

“तुम्हारी रगों का खून पानी हो गया क्या विमला ?....कुछ हो तो नहीं गया है तुम्हें ? वह तुम्हारी मुस्कुराती चितवन कहाँ खो गई ?”

विमला क्या कहे ? बोली—“पूछो जमाने की तंगी से । एक हमीं हैं ऐसी ? तुम भी तो कैसे-से हो गए हो इधर !”

“हम ऐसे हैं तो उसकी वजह है । मर-मरकर उठे हैं अभी । तुम क्यों ऐसी हो गई हो भला ?”

“तुम्हीं अच्छे न रहे, तो हम कैसे होंगी ? हमारी सारी चुस्ती तो तुम्हीं से आती है न !”

“मगर हम तो चंगे हो चले अब ! फिर तुम दिन-दिन इस तरह गलती क्यों जा रही हो ?”

“चिन्ता जो बनी है ! क्या बताऊँ, कैसे दिन आ पड़े हैं ! कब किसी का क्या हो जाय, कुछ ठिकाना है ?”

“दुत पगली ! यह तो तेरे जीवन का पहला मोर्चा रहा । इतने ही से घबरा गई ? जाने कितने ऐसे.....”

“ना-ना, ऐसा न कहो । जान ही ले ली होती उसने, तो अच्छा था । यह रोज-रोज की खपन !”

“अच्छा, तो लो, बस, अब सुनाओ तो कोई एक दिलकश चीज़ । जाने कितने दिन हो गए तुम्हारा गाना सुने !.....हाँ, वह जो गाती रहीं.....”

“कौन ?”

“अजी, वही—‘छिपाओगी कैसे, कहे देंगी अंखियाँ’ !”

विमला को यह क्या, जैसे गोली लग गई कलेजे में ! बाप रे ! तो यह आँखें कह देंगी ? कुछ कह तो नहीं गई अबतक अनिल की आँखों में ? और वह डरी-सी आँखें चुराए खंमे की आड़ पकड़ बैठ गई । बोली—“न भाई, आज नहीं ।”

“अच्छा विमला ! ज़रा हमारी आँखों में तो हँसो ! तुम तो आँखें भी नहीं मिलाती कभी ! जैसे कि हम कोई और हो गए या तुम्हीं कुछ और हो गईं आज !”

“क्या कहें, मन जो नहीं उठता उस उमंग पर !”

“आखिर क्यों ? यह सिन, यह यौवन, और फिर यह मन ! वह जवानी क्या, जो दीवानी न रही !—वह तलवार क्या, जिसमें पानी न रहा !”

“तो चलो कहीं बाहर । जगह बदल जाती तो ज़रा जी हरा होता ।”

अनिल की वह उमंग उतर गई । लगा सोचने । फिर बोला—“पैसे हैं कहीं ? हम क्या देख नहीं पाते कि यह तंगी तिल-तिल खाए जा रही है तुम्हें भी, हमें भी ! मगर चारा ?....जाने कब यह लड़ाई बन्द होगी ! कब भर-पेट खाना, भर-नींद सोना नसीब होगा । मगर दौं, मरना ही है तो हँसते-गाते मरें ! यह तुम्हारी तरह मर-मरकर जीना कोई जिन्दगी है ? और विमला अब तो बाज़ार भी लगा है कुछ ढीला होने । भगवान् ने चाहा तो—‘अइहें बहुरि बसंत ऋतु इन डारन वे फूल’ !”



नारी की निगाह और कुछ देखे या न देखे किस दिशा से उसके सुहाग के दायरे पर खतरा आ सकता है—यह रहस्य वह फौरन ताड़ लेती है ।

विनोदिनी का घूम-फिर बे-वजह आना—और बन-सँवरकर आना, कोई छोटी-मोटी भेंट लिये आना, एक-आध फूल-फल या नमकीन-मीठा भिजवा देना—किसी और को चाहे न खटके, विमला का कलेजा धक्-से कर उठता है । वह सोचती है कि यह दिए जाना और बदले में कुछ लेना नहीं... ! विनोदिनी या तो देवी है या फड़ पर जो कुछ सामने रख रही है, उससे कहीं दूर की कौड़ी लाना चाहती है वह ! तो क्या जहाँ तक वह सामने आई है, उससे कहीं ज़्यादा अपने को चुराकर रखती है ? अगर यह निरा सौजन्य है, तो फिर लाओ, उसके चरणों की धूल सर पर रखें । और नहीं, तो इस बंदिश का रुख़ किधर है ?

बड़ी पैसेवाली है क्या वह ? आखिर कहाँ से लाई वह इतने पैसे !... खरै, कहाँ से लाई हो, उसके साथ तो नैतिक द्विधा नाम की कोई अड़न नहीं । अभी उसकी जवानी है ही, नाज़-अंदाज़ की रंगीनी है ही, पैसे तो होने ही चाहिए । कोई चिराग़ लेकर ढूँढे तो शायद ऐसे हाव-भाव का तूमार कहीं देखे !

वह पैसेवाली ही नहीं, दिलवाली भी तो है !... है वह दिलवाली ? तो फिर यह भेंट, यह सलूक उन दिनों कहाँ था ऐसा ? जब अनिल की जान

आँखों में उलझ रही थी—दाने-दाने बगैर ; तब तो बस, जलते तवे पर दो बूँदें बनकर आती उसकी सारी दिलदारी—एक चवन्नी या मारे-पीटे अठन्नी । आज जैसी फुहियों-सी बरस जाती हैं जब-तब, ऐसी भी होती उन दिनों या जूरा-सी और घनी होती तो विमला की काठ की छाती यों ककड़ी-सी दरक पाती ? 'तो क्या वह चाहती रही अपनी तरह उसे भी बाज़ारू बनाना ? क्यों—किस लिए—उसे फ़ायदा ?

...नहीं-नहीं, ऐसी शैतान न होगी वह ।...तो फिर आज की इस दरियादिली की तह में रहस्य क्या है ? अगर यह एक मोहताज पड़ोसी के प्रति सरासर स्नेह का संचार है, तो फिर धन्य विनोदिनी !—धन्य तेरा कलंक ! तेरे चरणों की रज सर पर रखकर नरक भी हो गया स्वर्ग के बराबर !

मगर कहीं इस सौजन्य की तह में स्वार्थ का कीट छिपा बैठा हो तो ?

तो क्या पैसे चाहती है वह ? पैसे की भूखी चाहे वह जो हो, वह क्या जानती नहीं कि अनिल के पास कानी चिन्ती भी नहीं ? तो फिर वह उस रस को ढूँढ़ रही है, जो उसे पैसेवालों के घर रूप की सौदागरी में मयस्सर न हो सका ?

प्रेम ? मगर उसने तो पैसा पाया, आज प्रेम कहाँ पाया ? आज प्रेम के बिना पैसा लगता है फीका । रह गना था उसका नारीत्व यों ही । यही उस दबी-दबाई लौ की भभक है आज ! न अनिल को देखती, न यह दबी आग लौ उगलती । मगर अनिल के पास प्रेम है कहाँ ? उसे तो वह दे चुका है कभी । उसका है वह कि दे ! हो-न-हो, वह ढूँढ़ रही है एक जवान का पुलक-स्पर्श ! पैसे के बाज़ार में वह आता भी है बड़ा महँगा । मगर प्रेम के बिना क्या सुख मिलेगा उसको ?

कहीं अनिल उसकी चाल में आ गया तो ?—उसके तीर का निशाना बन गया तो ? नहीं-नहीं, उसके माँ है, बहन है, वे कभी ऐसी बातें होने देंगी ? * मगर * मगर कौन ठिकाना, उसने पैसे से उनके मुँह बंद कर दिए तो ? * दुत, कोई कुछ न कहे, वह तो है ! उसकी ओर देखकर अनिल फिर किसी और को कैसे देख सकता है भला ! * मगर रह गई है किसी योग्य वह ? उसने खुद देखा अनिल की ओर, जब वह... ?

देखा नहीं-? और क्या देखकर उसने अपने नारीत्व-जैसे अनमोल कौस्तुभ की भी परवा न की ?....तो फिर अनिल के चरणों में अपने को उँडेलकर सारी बातें उगल दे क्या ? हाय राम ! कैसे कहे वह, क्या कहे ? उसने न सुना—न समझा—तो ?

विमला बैठी है जूड़ा बाँधने । वह बन-सँवरकर सामने नहीं जाती तो अनिल कल की तरह फिर टोक बैठेगा । लटों को मुठ्ठी में थाम फीते से कस रही है और सोचे जा रही है । पुटपुर पर लटें छूटकर बिखर गईं, उसे पता नहीं । वह तो अपनी भावनाओं की गहरी उमड़न में उभचुभ है—कहे तो मुश्किल, न कहे तो मुश्किल । नहीं-नहीं, कही डालो—चित या पट; हो, जो हो । इस तिल-तिल के धुलने से तो बचेगी !

और वह बिखरी लटों को जैसे-तैसे समेट उठ चली अनिल के कमरे की ओर । चौखट पर कदम रखते ही उसे खटका—यह लो ! अनिल तो अभी आफिस से लौटा ही नहीं । और, घर में न शक्कर है, न दूध ! वह आफिस से थका-मँदा आए और हाय रे करम, एक प्याली चाय भी न मिले !

बस, लटों पर गुलकारी ज्यों-की-त्यों रह गई । वह चली चाय का सामान करने । तो आज ही चाय के वक्त, कहकर उस जंजाल से लुट्टी ही न ले

लें !... दुत्, यह भी वक्त है किसी छेड़-छाड़ का ? वह रात में जब खा-पीकर निश्चिन्त होगा, तब वह बातों-बातों में जी का यह काँटा निकाल देगी—
हौले-हौले, फूँक-फूँककर ।

जीजी सामने आ गईं । चलो, उनसे भी पूछ लें । कहीं अनिल उखड़ पड़ा तो जीजी उसे मजे में सँभाल लेंगी ।

और उसके होंठ हिल उठे—“जीजी, सोचती हूँ कि उनसे कही देना ठीक होगा । किसी और से सुन लिया तो जाने क्या....!”

“आखिर कैसी बात ? कौन-सी बात ?”

“वही । हम तो उसे भूल नहीं पातीं जीजी !”

“यह ले ! तू अभी तक उसे घँघोला ही रही है पगली ! यह भरे जख्म को खोद-खोदकर ताजा करना ! जैसी है तू ! ना, ना भाई, ऐसा काम भी न करना । पुरुष-मानुष का मन, जाने कब कैसा रहे ! कहीं उखड़ पड़ा तो तुझ पर जो बीतेगी सो तो बीतेगी ही, हम पर भी...!”

“हम-तुम न कहें, न सही ; कहीं विनोदिनी कुछ कह बैठी तो ?”

“मजाल है ? और वह ऐसी छुछुम न होगी विमला ! समझती न होगी कि उसकी जिम्मेवारी भी तो बराबर है ! बस, अब इसे पचा डाल ; डकार भी न लेना कभी !”

मगर विमला की आँत में वह पचे तब तो ! रह-रहकर आँत गले आती है ! क्या करे बेचारी ? है कोई दवा, जो उसे पचा डाले ?— है वह वैद्य ?

“हौं री विमला ! यह क्या कर रखा है लटों को तू ने ?”—जीजी ने बात का रुख पलट दिया—“कहीं पड़ गई अनिल के सामने तो भँभोर कर धर देगा !”

“चाय भी तो करनी है जीजी ! वह आ ही चले ।”

“घर में है भी कुछ जो करेगा तू ? अच्छा रह, हम सामने की दूकान से मँगाए लेती हैं कुछ ”—और उसने मुन्नी को आवाज़ लगाई—“मुन्नी ! कहाँ मर रही है पगली ?”

और जीजी उठीं मुन्नी को भेज बाज़ार से एक-आध कुछ मँगा लेने ।

विमला बैठी जूड़ा बाँधने कि अनिल आ पड़ा । विमला पर नज़र पड़ी तो जैसे निहाल हो गया—“हाँ, आज तुम आई हो आदमी की शक्त में महीनों पर !” “मगर यह लो ! यह मन-मरी-सी क्यों हो रही हो ऐसी ? मुँह बनाए रहना है तो बाल बनाने से फ़ायदा ? हम तसवीर देखना नहीं चाहते ; चाहते हैं चेहरे पर ज़रा हलचल, एक मीठी-सी मुस्कान, एक तीखी-सी चितवन !”

विमला लगी जी जॉन्ट होठों पर मुस्कान लाने । एक कसमसाती-सी मुस्कुराहट उठ आई ।

“अरे, यह फ़रमाईशी नहीं, दिली ! यह तो दिमाग से आई है सरासर ! वह जो दिल से आए—हम उसके कायल हैं ! वह आई तो फिर ज़र्ज़र्रा मुस्कुरा उठेगा ! वह बुलाने से आई तो फिर आई क्या !” “वस, रही तू यों ही ! इतनी भी समझ नहीं कि हमारा दिल तुम्हारी सेवा, तुम्हारे स्नेह का जो दम भरे, आँखें जो कुछ तुममें ढूँढ़ती हैं, उसे न पाएँगी तो लगेंगी इधर-उधर अपनी खुराक जुगाने ! और जानती हो न, कि कैसी सरकश हैं वे ! जिधर मुड़ती हैं उधर चाहती हैं दिल को भी साथ घसीटे चलना ।”

और वह मुस्कान का नकाब भी लगा तिलमिलाने—जैसे अब गिरा, तब गिरा !

मगर बेचारी का दिल तो जल रहा है, कहाँ से लाए चेहरे पर वह बेफिक्री की लहर ! यह कुछ पाउडर की रंगत और लटों की सजावट थोड़े ही है कि बैठे-बिठाए कर ली !—दिल साथ दे तो, न दे तो !



विमला की सास का एक ममेरा भाई तारकेश्वर स्टेशन का ठिकटबाबू है। अनिल मे लालदिग्धी पर मेंट हो गई। उसे पता न था कि अनिल की माँ यहीं हैं। सुना, तो लौट पड़ा दीदी से मिलने। ऐसी तंगी के दिन किसी मेहमान का आना एक बला का सामना है। मगर किया क्या जाय ? शरीफ़ के लिए अन्न के संकट से भी कहीं अधिक विकट मान का संकट है। चेहरे पर हवाइयों छूट रही हैं, पर उसका पानी बेचारे सँजोए चलते हैं छाती पर पत्थर रखकर।

घर पर तारकेश्वर महादेव का जिक्र रहा। अनिल की माँ लगीं कहने कि बेटे की बीमारी में मन्नत मान वैठी हैं—वह भाई के साथ नहीं जातीं तो फिर कौन ले जायगा यहाँ से ? अनिल ने बेबसी बताई कि अमी हाथ में पैसे कहाँ हैं ? एक-आध महीना और दम लो। मगर टिकटबाबू टिकट की मुश्किल हल करने को तैयार थे। यह सुयोग कोई हाथ से कैसे जाने दे ? माँ ने कहा कि वह पैसे नहीं चाहती, वह अपना कर लेंगी, जैसे हो। चंद घंटों की तो बात है ; दोपहर की ट्रेन से जाना है और सुबह दस बजे तक वापस हो आना है।

जब किराए का मसला हल हो गया, तब जीजी का हौसला भी जोश खाने लगा ! बस, रात ही भर का तो सवाल है, बहू अकेली सँभाल न लेगी ?

मगर वहाँ के चमत्कार की चर्चा सुन-सुनकर बहू भी लगी ढाँवाडोल होने । यह दैवी सहारा जैसे उसी के लिए आज आनायास आया हो ! पति से वह आप-बीती चुराए चलना उसके लिए तलवार की धार पर चलना था ।

जिससे कोई परदा नहीं, उसीसे यह आठों पहर परदा ! उसके नारीत्व की कितनी बड़ी बे-पर्दगी है यह ! एक अजब कसमस, एक जंग-सी छिड़ी है दिल के अंदर । न वह चुरा पाती है, न उभर पाती है । न मरती है, न जीती है । और वह पल-पल कर रही है, छटपट-छटपट ।

यह वह घड़ी है, जब आदमी अपनी लाचारियों से टूटकर एक आसमानी सहारे की उम्मीद रखता है । वह तारकेश्वर जाकर बल बटोर लाती; फिर अनिल के आगे अपने किए के तमाम कच्चे चिट्ठे खोलकर धर पाती ।

वहाँ इस प्रश्न का सामाधान क्या होगा—कैसे होगा, इस तह तक उतरने की क्षमता भी न थी उसमें । पर वह जाय तो कैसे ? अनिल का रात का भोजन तो है उसी के जिम्मे ! किसी सस्ते होटल में जाकर खाता है, तो चीज भी मिलेगी सड़ी-बुसी और नाहक पैसे का भी खून होगा । एक हाफ़ प्लेट चावल तो आएगा बारह आने का, वह भी ऐसा कि आँत उलटकर धर दे ! और फिर कम-से-कम गली दाल और ताजी सब्जी न रही तो कोई खायगा क्या खाक ?

इस मशविरे में विनोदिनी भी आकर शामिल हो गई । लगी कहने कि “अनिल के खाने की फ़िक्र क्या है, हम क्या नहीं हैं उनकी कोई अपनी—पड़ोसी के नाते से लो तो, सरोकारी के नाते से लो तो ?”

मगर विनोदिनी का यों साथ होना, वह भी खिलवत का साथ, विमला

के लिए एक नया दर्द-सर निकला ।

विनोदिनी थी सैकड़ों मैदान की खेती ! चट उसने उसके अंदर की दुखती रग पकड़ ली — “मैं यहाँ कल न हूँगी तो इससे क्या ? अनिल को खाना तो मिल जायगा वक्क पर !”

विमला ने पूछा — “तो क्या तुम भी चलती हो तारकेश्वर ?”

“न भाई, मुझे तड़के ही जाना है काशीपुर । परसों भी किसी वक्क लौट आई, तो जल्दी ही समझो ।”

और यों कल चलने की ठहर गई । रह गया अनिल अकेला ।



शाम के सात हो रहे होंगे । हवा भिर-भिर चल रही है । आसमान पर बादल की रंगीन टुकड़ियाँ डूबते सूरज के इर्द-गिर्द किलोल कर रही हैं । एक सुहावना समौ—सरापा ।

अनिल खड़ा है डलहौसी की पटरी पर । सोच रहा है—‘बस’ से चले या पैदल । देखता है —पैलिटी के सामने मोटरें गुँथी हैं । ओ हो ! बड़ा सरगर्म है होटल आज !

दिल ही तो है, न मचल जाए क्यों ? भौंककर देखा और देखता रह गया । वाह, क्या कहने हैं इस अंजुमन के ! मेजें लगी हैं ढंग से । गुलदस्ते सजे हैं करीने से । कहीं बोटलें खुलती हैं पटापट, कहीं चाय चलती है गरमा-गरम । दीवार पर तस्वीरें हँस रही हैं बिजली की रोशनी में । भालरें थिरक रही हैं बिजली के हनहनाते पंखों पर । चेटरों की दौड़-धूप । प्लेटों की सजावट । काटे-छुरी की खनक । भीनी सादियों की लहरें—कहकहे—गुलछेरें—चौंचले । और सब पर रंग भर रही है हसीनों की जादूनजरी —उनकी मुस्कान की मोहिनी !

यह उमड़ी हुई उमंगों की उर्मियों अनिल की आँखों पर स्वर्ग की परियाँ बनकर थिरक रही हैं और खुल-खुलकर सिमट जाती हैं उसके दिल की पंखड़ियाँ ।

तो क्या इस शरीर से ऐसे स्वर्ग में उसका प्रवेश निषिद्ध है—सचमुच

निषिद्ध है ? किसी उम्मीद की भी सर उठाने में छाती दहलती है गोया ।
क्यों ! उसके पूर्व जन्म की कमाई—उसका अभाग्य !.....अरे, गोली मारो
इस दैव को । यह खा गया इस हरी-भरी भूमि का भाग्य !

तो आखिर क्यों है ऐसी निर्मम विषमता ? वह भी तो वही है, जो वे
हैं—वही दिल, वही दिमाग; वही सूरत, वही सीरत । फिर यह दुरंगी नीति
क्यों ? वह छोटा कैसे, वे बड़े कैसे ? एक ओर भोपड़ी और दूसरी ओर
हवेली । यह देश की प्रगति के पैर में बेड़ी जो हो, मगर कुछ ऊँच-नीच की
कसौटी तो नहीं । फिर ऐसा क्यों ?—यह निर्मम विषमता—यह विषम
निर्ममता ?

अरे भाई, यह पैसा है, पैसा ! यही है इस युग का कर्ता-धर्ता-नियंता ।
यही आज तुम्हारे पास होता तो पैलिटी क्या, फ़रिश्ते भुके आते तुम्हारे
पैरों पर । बला से सुख पाता या न पाता—मगर पाता तो शान, मान,
आराम और शौक का तमाम सरंजाम—यह, वह, सब ।

हाय राम ! मरने के पहले एक पल भी तो इस रसाल-नंदन का लुत्फ
लेता वह ! फिर क्या था ? खुशी से इस जीवन की अवधि गुज़ार देता ।

अबे पगले ! कहीं शराब से किसी की प्यास मिट सकी है ? आग
जगाकर चला है आग बुझाने जैसे !

तो यह तरस उसके साथ जायगी क्या ? क्या करे बेचारा ? उसके छी
है, बच्चा है, माँ है, बहन है । उनके मुँह की रोटी छीने जब तो यह मुराद
पूरी हो ! जवानी रहते तो उम्मीद नहीं—जवानी का उतार आते-आते
तनखाह की तरकी हुई भी तो शायद वह दिल ही न होगा कि यह हवस
उठे । मगर कहीं यह हवस टिक गई तो ?

तो टिके ! उससे क्या ! बच्चे जो सयाने हो पड़े'गे । लड़की रही तो उसकी शादी का तकाजा; बेटा रहा तो उसकी रोटी की फ़िक्र । किसी पल कल नहीं । और सफ़ेदी आई तो इन्द्रियाँ लगेगी जवाब देने—उमंगें लगेगी विश्राम लेने ।

तो बस, चल रे मन—घर चल । अपना-अपना भाग्य; अपना-अपना भोग !

और अनिल चल पड़ा मन-भरा-सा अपने बसेरे की ओर । एक कड़ी उसे याद आ गई । लगा गुनगुनाने—

“हसरत बरस रही है रखे ना-मुराद पर
यह कौन जा रहा है तमन्ना लिये हुए ।
आई है बेहया मेरा ईमाँ टटोलने
दुनिया खड़ी है दौलते-दुनिया लिये हुए !”

तभी विनोदिनी जाने कहाँ से फट पड़ी ! और दोनों ओर से एक ही साथ—एक ही सवाल आया—“तुम कहाँ ?”

विनोदिनी बोली —“ट्रेन तो छूट गई ।”

अनिल ने हँसकर कहा—“चलो, लुट्टी हुई !”

और दोनों हँस पड़े ।

“तुम बड़ी वैसी-सी दीख रही हो आज विनोदिनी !”—अनिल ज़रा छेड़ बैठा ।

“आन्दिर कैसी-सी ? सुनूँ भी !”

“एक अजब गुल-फुल ! क्या बताऊँ नज़र नहीं ठहरती !”

“यह तुम्हारी नज़र है—हम नहीं ! वह रंग में रही तो जैसे चढ़ गया दुनिया के हर ज़र्रे पर एक रंग !”

“अरे भाई, हम-जैसे पेट-जलों की नज़र कब रंग में आई है भला !”

“दुत ! यहाँ भी कोई गरीब है या अमीर ?” “हँसना-रोना तो हर किसी के साथ है, भाई !”

“न जानोगी तुम ! तुम क्या जानो हमारी चौतरफ़ी जलन !”

“जैसे कि हम जानते ही नहीं । अजी, चिता चंदन की हो या बनूल की, जलन तो एक ही है ।” “अच्छा, चाय पी ली ?”

“अभी कहाँ ?”

“तो चलो, इसी पैलिटी ।”

“पैलिटी में ?” —और उसके पाँव-तले से जैसे ज़मीन लगी सरकने !

“क्यों ?”

“यही कि कहाँ हम, कहाँ पैलिटी !”

“चलो भी ! जहाँ तुम, वहाँ वह ! उसमें क्या रखा है !”

“यों ही—इसी तरह ?”

“तुम भी बड़े वह हो !”

“देखती नहीं, वहाँ सूट-बूट ढाँटे अकड़े हैं लोग ?”

“रह गए गावदी तुम भी ! सूट-बूट में ही शराफ़त धरी है किसी की ? हम क्या शरीफ़ नहीं ? लाए तो कोई विलायती तुम्हारी-सी शक्ल—तुम्हारे-जैसे सलीके !”

“जाने भी दो, नाहक कितने पैसे गल जाएँगे यहाँ !”

“यह सुनो ! पैसे तो जैसे हमारी आक़बत में काम देंगे !”

“भगर हम पर जो यह नाहक पैसे फेंक रहो तुम !”

“नहीं समझते तुम । लुटफ़ भी अकेले की चीज़ है ?”

“तो क्या कोई अपना नहीं है तुम्हारा यहाँ ?”

“यहाँ तो बस तुम्हीं हो !”—और विनोदिनी आँखें नचाकर हँस पड़ी ।

अनिल के पैर थर्रा रहे हैं । जी उठ-उठकर बैठ जाता है जैसे । छूटते ही बोला—“हैं-हैं ! आखिर कोई सुन लेगा तो क्या कहेगा ?”

“कहेगा तुम्हारा सर !”— विनोदनी ने मुँह लटका लिया ।

“अच्छा भाई, चलो । जी छोटा क्यों करती हो ? हमारे लिए तो यह सपना है जैसे !”

“तिल को ताड़ कर दिया लेकर ! जैसे कि पैलिटो जाने क्या है !”

और अनिल ने इसी शरीर से जैसे बहिश्त में कदम रखा ! एक पल पहले जो स्वप्न में भी संभव न था, वह यों बैठे-बिठाए खुद टपक पड़ा । एक करिश्मा नहीं तो क्या है ?

दोनों एक किनारे की मेज के पास आ गए । अनिल अंदर-ही-अंदर थर्रा रहा है । आँखों में दहशत भाँक रही है । दिल धड़क रहा है । वह कुर्सी पर बैठ नहीं पाता ? एक अजब आलम है उस पर ।

“बोलो, क्या मँगाऊँ—केक, पैस्ट्री, सैंडविच, चिकिनपैटी ?”

“जब तुम खा रही हो, तो मैं खाने को बाकी हूँ ?”

“अजी, बैठो भी !”—विनोदिनी ने उसका हाथ थाम बैठ जाने को एक झटका दिया ।

“मैं तो बैठ जाऊँ; दिल उठे तब न ?”

“जबान न उठा देगी !”

“उसके बस के होकर रहे तो हम कहाँ के रहे भला ?”

“जैसे कि ज़रा-सा चख क्या लिया कि उसका गुलाम हो गया कोई !”

अनिल बैठ गया भेंपता हुआ ।

“चाय तो तुमने रोज पी है । आज कुछ और पियो—वही जो प्याले में छलकती-सी आती है ।”

“ना भाई, चाय से आगे जाने की यहाँ हिम्मत ही नहीं ।”

“तुम तो यहाँ कदम रखते भी भिन्नकते रहे—जाने कहाँ खिंचे जा रहे हो जैसे !”

“आखिर चाय वैसी बुरी क्या है ?”

“अजी, चाय चाय ही है, वह मस्ती की चुमुक नहीं हो पाती—चाहे जिस आग पर रखो ।”

“तो क्या तुम पीती हो ?”

“उसमें रखा ही क्या है ? पी ली तो क्या, न पी तो क्या ?”

“मगर लोग तो उसे कुछ वैसी निगाह से देखते हैं !”

“मेरी निगाह से पीना-पिलाना कोई पाप नहीं ।”

“तो फिर पाप है क्या ?”

“अपना डर । मैं तो उसे पहचानती भी नहीं । वह शायद मेरे ही डर से थरता होगा । जन्नती जितने हैं, वह किसी शौक को गुनाह समझा करें, हमारे साथ तो न जन्नत है, न जहन्नम ! बस, अपनी-अपनी नज़र समझो !

“तो फिर दुनिया यह पाप और पुराय लिये सर क्यों खपा रही है ?”

“उसकी नज़र की बलिहारी ! मगर हाँ, अब आँखें खुल रही हैं धीरे-धीरे । आज तो किसी खान-पान या रहन-सहन की बस, सफ़ाई देखी जाती है, उसकी अच्छाई या बुराई नहीं । वह कसौटी ही उठ गई । कुछ भी करो एक तौर से करो—बस !”

“फिर तो धर्म को पेंशन लेकर कुर्सी छोड़ दी देनी चाहिए ?”

“पेंशन नहीं, खाक ! कुछ ठिकाना है, कितना कमा चुका वह अब तक ! अब तो जमाने की रफ्तार उसे कान पकड़कर बग़्ग़ास्त ही कर देगी—उसकी पोल जो खुल गई है !”

“सो क्या ?”

“दुनिया जान रही है कि यह पाप का प्रोपेगेंडा उसने खड़ा किया अपना रंग जमाने के लिए । ”

“क्या कह रही हो तुम ?”

“यही कि धर्म तो जैसे पाप का मुँह जोहता है । उसका भय सामने न रखता तो वह टापता ही रह जाता । कोई उसे पूछता तक नहीं ।”

“यह कहो कि वह पाप का भय न देता, तो आदमी जानवर से भी गया-बीता होता आज ।”

“अजी, इसी राई को पर्वत कर तो धर्म का रोज़गार चला है । आखिर नरक की भयावनी तस्वीर आदमी के सामने वह उछालता क्यों है ? उसका तो ऐलान है ख़बरदार ! हमसे अलग होकर दुनिया का मज़ा लूटना चाहते हो तो दोजख़ की आग सामने है ! हमारी जेब गर्म कर हमसे मिलकर चलो, तो यहाँ निभाते रहेंगे और फिर आगे भी छूटकर मज़े उठाने के लिए दमामी पट्टे लिख देंगे । जभी तो जिन रसीली चीज़ों के शौक का अंजाम जहन्नुम का रास्ता है, उन्हीं चीज़ों से बहिश्त का कोना-कोना भर दिया है उसने ! चमन भी है, मय भी है, साक़ी भी है—क्या नहीं है वहाँ ? बस, एक ओर से भय देना और दूसरी ओर से रहमत का आसरा देकर उस भय का विष हर लेने की उम्मीद देना तुम्हारे धर्म का चलता प्रोग्राम है आज !” अच्छा,

यह कहो क्या मँगाऊँ पीने को ?”

अनिल ने चुप्पी साध ली। यह नहीं कि उसने कभी पी ही नहीं है। मगर अपनी चादर में पैर रखना है, उसने पीने की लत नहीं डाली। वह जानता था कि यह एक चुल्लू से उठकर बोतल पर चली आती है और फिर डूबने को चुल्लूभर पानी की तलाश होने लगती है। मगर उसके साथ न चुल्लू है, न बोतल ! एक कस्मसाती-सी हवस है जरूर ! मगर वह कुछ ऐसी नहीं कि उसकी जवान पकड़ ले। और फिर कैसे कहें कि कोई हवस निकले !

“अरे भई, पीना बुरा नहीं है ; बुरा है पीते जाना ।”

“मगर अभी जो तुमने कहा कि यह अच्छाई और बुराई तो एक वहम है ?”

“वह तो फिर भी कहती हूँ कि यहाँ नेक और बद का सवाल नहीं है। सवाल तो यह है कि न पीनेवाले सिद्धी हो जाते हैं और बेतरह पीनेवाले पगले। किसी शौक्त का गला टीपना अपने पर जुर्म है ; उसमें डूबकर वह जाना तो खैर....सत्यानास है ही !” “अच्छा लो, चाय ही सही ।”

चाय आई। बरसने लगीं केक और पैस्ट्रियाँ—जैसी देखने में, वैसी चखने में ! कोई क्या-क्या देखे, क्या-क्या चखे !...भला, कोई क्या देखे, क्या चखे !

अनिल ने तो न ऐसी चाय पी थी, न ऐसी पैस्ट्री चखी थी ; न ऐसे शालीन वायुमंडल में आया था, न ऐसा दिलचस्प साथ हुआ था। नई लज्जत, नई चाहत ; एक अनजान पुलक, एक मस्ती की छलक। रस भीन रहा है, लहू थिरक रहा है, बाँछें खिल रही हैं ; और विनोदिनी देख रही है कि रस

की एक बूँद ने कैसा जगमगा दिया उसको। उसका हर अंग जैसे भूम-भूम उठा !

अनिल आँखें उठाकर देख रहा है और सोच रहा है कि यह बहार क्या फिर देखने को मिलेगी ? यह लज्जत क्या फिर चखने को मिलेगी ? काश, यह एक-एक पल एक-एक युग हो पाता—यह शाम कभी रात न होती !

और वह क्या खा रहा है, क्या नहीं खा रहा है— पता नहीं। वह भर रहा है या उभर रहा है— पता नहीं। यह बेखुदी का आलम है उस पर— एक गंशे का निखार है जैसे।

“यह सब तो तुम्हारे लिए एक नई चीज है आज ?”

“क्या बताऊँ, मैं ही जानता हूँ, जो मैं जान रहा हूँ आज।”

“तो फिर एक तजर्बा बाक़ी क्यों रहे ! चख भा तो लो ! और, पीने को तो मैं खुद नहीं कहती।”

अनिल ने हँसकर जहा—“अजी, बे-पए ही मस्ती न रही तो जवानी क्या ?”

विनोदिनी मुस्कराई—अनिल अब आ रहा है ज़रा रंग में। बोली—“यह अच्छी रही ! वह मस्ती रहती तो हमारी आँखों से बच पाती !”

“अच्छा भाई, देखूँ भी आखिर क्या न्यामत है यह !”

और विनोदिनी ने गर्दन फेर तलब किया—दो कॉफ़्टेल—“देखो, इसे सिप करने में ही लुत्फ़ है ; गिलास उठाकर साफ़ कर गए तो बस गए।”

अनिल ने चखकर कहा—“वाह ! कमाल है ! खूब !”

“अजी, कमाल है तुम्हारी चाह, जो इस शीशे में भी रस उबेल रही है।” “अच्छा, यह तो कहो, किसी ऐसे होटल में कभी खाया है तुमने ?”

“तुम भी क्या काँटों में घसीट रही हो, भाई !”

विनोदिनी हँस पड़ी—“तो कल डिनर रहा—फ़र्पो या पैलिटी ।”

“डिनर ?”

“जी ! डिनर ।”

अनिल एकबारगी चौंक उठा—अरे, उसके पाँव-तले की धरती सरक रही है क्या ? यह क्या सुन रहा है वह ?

जब चाय में इतना रस है, फिर डिनर तो पीयूष का प्लावन होगा जैसे !

वह समझ नहीं पाता है कि विनोदिनी यह बैठे-बिठाए क्या लेकर उठी है । आखिर यह क्या खेल कर रही है वह ? और किससे ? उससे या अपने ही से ?

शायद अजब होती है अमीरों के दिल की मौज । गरीबों की सोई-सुलभी हसरतों को यों चौकाकर जाने क्या लुत्फ़ उठाते हैं वे । ओफ़ ! उनकी तो यह एक गुदगुदी ठहरी, इधर जाने कब की दबी आग भड़क उठी ।

उधर विनोदिनी अपने ही में उलझी है जैसे । यों देख रही है जैसे कि कुछ देख ही नहीं रही हो अपने सामने । वह यों देख रही है, जैसे अपने अंदर देख रही हो जाने क्या ! कुछ खोई-सी, कुछ डूबी-सी ।

और उसी आलम में बोली—“आज हम ले रही हैं एक नया अनुभव जैसे !”

“जी ! इसलिए कि हमारे जैसा गँवार न आया होगा तुम्हारे साथ ऐसे होटल में ।”

“न समझोगे तुम—‘हमीं देखते हैं जो हम देखते है ।’—विनोदिनी ने ऐसे कहा कि जैसे अपने से कह रही हो वह ।

तभी उसके हाथ का गिलास उँगलियों की कोर से छूटकर आ रहा

उसकी गोद में। खैरियत हुई कि ज़मीन पर न आया। ऑचल का पल्ला ज़रा-सा भीग गया, मगर वह सोते से चौक उठी जैसे।

उसने बेटर को पुकारकर कहा—“यह लो, एक और लाना।”

मगर उँगलियों से उसने इशारा कर दिया—दो।

बेटर दो कॉकटेल लिये आ पहुँचा।

“यह लो! एक और आ गया। खैर, तुम्हारा भी तो खाली ढो ही चला!”

अनिल की आँखों में एक गुलाबी-सी छा रही है। बोली—“ना भाई, माफ़ करो।”

“जैसी तुम्हारी खुशी! लेकिन जब आ ही गया तो एकाध ही घूँट सही!”

जब वह आ गया सामने, तो फिर उसे बैरंग वापस कर देना तो कोई दानाई नहीं। और जब चख लिया एकाध घूँट, तो फिर आदमी क्या, देवता की भी बिसात नहीं कि होठों से अलग रखे।

“सिगरेट न लोगे?”

“हाँ, सिगरेट तो चाहिए ही इस पर। ‘‘‘खूब! यह सुनहली सिगरेट। अरे भाई! हमारी दौड़ तो ‘सिज़र्स’ तक है आगे नहीं।”

आखिर आ गई उठने की घड़ी। विनोदिनी उठी, अनिल भी उठा—जैसे वस्त्र की रात सुबह हुई।

बाहर सड़क पर उतरते वक्क, अनिल ने रुमाल से मुँह साफ़ किया और कहा—“हम सपने से जाग उठे गोया। लौट आए अपनी दुनिया में।”

विनोदिनी ने हँसकर कहा—“तुम तो जाग उठे, हम तो अभी उसी सपने में खोई हैं जैसे।”

“क्यों बना रही हो विनोदिनी ! तुम्हारे तो यह बस की बात है ।”

“हाँ, तुम भी जैसे हमारे बस की बात हो, क्यों ?……टैक्सी ! टैक्सी !”

“तुम पर यह क्या सवार है आज ? टैक्सी……टैक्सी लोगी ? हम तो ‘बस’ ही लेंगे, भाई !”

“तो ठीक है, हम तुम्हारे लिए नहीं लेतीं—अपने लिए ले रही हैं ! हम तुम्हारे लिए पैलिटी न आई थीं—आई थीं अपने लिए—समझे । लो यह आ गई टैक्सी ! अब आओ, माथ चलो ।”——और वह खिलखिलाकर हँस पड़ी—“एक दिन मोटर पर चढ़ लोगे तो तुम्हारी दुनिया न बदल जाएगी—न हमी मोटर न मिली तो हाथ-पैर तोड़ बैठ जायँगी यहाँ ।”

“देखते हैं, तुम्हारे पास पैसे बहुत हैं ।”

“पैसे नहीं, हवस कहो ! पैसे होते तो विनोदिनी न पैलिटी जाती, न मोटर ढूँढ़ती । पैलिटी उसके घर आती, मोटर उसके घर होती । यह तो कहो कि हमारे साथ कोई जिम्मेवारी नहीं है कि छुठे-छमासे कभी पैलिटी चली गई, कभी टैक्सी कर ली । अपना तो बस एक वसूल है कि किसी शौक से इनकार नहीं और किसी शौक का शिकार नहीं ।”

दोनों बैठ गये । टैक्सी हवा हो गई ।

वाह ! क्या सवारी है यह ! आसमान में उड़ी जा रही है जैसे !

तभी सामने फुटपाथ पर टोंग घसीटते पक्षोस के आफ्रिस के एक हम-जोली पर नज़र पड़ गई । उसकी बौखलाई निगाहें देखीं—गर्दन फेर वह उसे देखता है—एक अचरज, एक कुतूहल, एक प्रश्न और एक तीखी-सी मुस्कुराहट है उसके चेहरे पर ।

तो वह एक तमाशा है आज अपने साथियों के लिए ? वह भी तो ऐसे ही अकचकाकर देखता—काश, वह रमेश होता उनकी जगह कार में ।

उसका दिल बैठ गया—हो-न-हो यह पुनो आई है उसके जीवन में—अमावस की आँधियारी छोड़ जाने । अपना तो बराबर यह हाल रहा कि भोर का निखार भी दिन का उतार है गोया !

बस, उब गई आँखों की गुलाबी, लुट गई चेहरे की वह रोशनी !

ईधर यह रवैया, उधर विनोदिनी सोच रही है कि अनिल यों वृत्त की तरह निःस्पंद क्यों बैठा है ?... खैर, नया आया है न ?—और वह भी गरीबी की गली से ! अभी पैर रोप नहीं पाता है । डर रहा होगा, सामने ड्राइवर जो है ! नहीं तो कोई उसकी बगल में बैठ मोटर पर सैर को निकले और उसकी आँखों में आँख भी न डाले—उसके कंधे-से-कंधा भी न छुलाए ! कम-से-कम इतनी-सी चुहल तो पहले साथ का बँधा प्रोग्राम है । या भगवन् ! तो क्या आज वह ऐसी हो गई कि उसकी अदाओं में बिजली भी न रही ? वह तो कभी की ऐसी न थी ? मगर हाँ, ऐसा साथ भी तो न हुआ था कभी !

आखिर तो कॉकटेल की बिसात ही क्या ? एक जरा-सा रंग लाया उस पर और उड़ गया ! था भी आज हल्का वह । इस महँगी में होटलवाले भी लगे हैं छूटकर आँखों में धूल देने । नहीं तो वह कॉकटेल क्या, जो किसी के सर पर चढ़कर न बोला ! मगर हाँ, यों पता न चलेगा । हम आँर वही अकेले होते तो कुछ खुलता—हाथ-पैर फैलाता ।

.. तो उसे जरा उकसाकर देखें तो सही, उसकी रगों में लहू है या पानी ! यों तो वह उभरने से रहा—जैसा अनाड़ी है वह !... लेकिन...

अच्छा, चलो घर पर तो वह अकेला है आज ! वहाँ आप ही खुल जायगा कि हवा का रुख किधर है ।

और वह रह-रहकर देख रही है कि अनिल क्या देख रहा है—सोच भी रही है कि वह क्या सोच रहा है; और अन्दर-ही-अन्दर चाह रही है थाह लेना कि वह क्या चाह रहा है ।

वह इस जीवन में जाने किस-किस के साथ न हँसी-खेली; मगर क्या बात है जो अनिल के साथ बगैर हँसे-खेले एक अनजान खिंचाव-सा हो रहा है उस पर ! दुनिया ने उस पर रुपए लुटाए और वह चली है कहीं के इस फटे-हाल पर लुटने बेकार ! आखिर यह क्या है जो वह उसमें पाती है—किसी और में नहीं ? शायद वही देखती है जो कुछ वह देख रही है उसमें ! आज पहले का सब लेखा-जोखा एक ओर, यह एक ओर !

हाय री किम्मत ! यह अपनी हकीकत उसे आज ही नज़र आई है क्या ? पैसे के मोह में पड़ वह जीवन के एक अनुपम अनुभव से वंचित रह गई । यह एक नया दर्द है तो बला से, एक अनजान पुलक-हिलोल भी तो है ! इसे न जाना तो जाना क्या —न पाया तो पाया क्या ? लेने में वह सुख कहों, जो किसी को देने में है ! तो क्या पाने से कहीं गंभीर आनंद अपने को किसी और पर उड़ेलकर धर देने में है ?.....है ऐसा ? सच ?.....ना-ना वह ऐसी कोरी भावुकता में आनेवाली नहीं ! क्या हो गया है बैठे-बिठाए उसे आज यह ! अनिल का ही एक चेहरा चाँद-सा नहीं है दुनिया में; अनिल ही एक अनूठा जवान नहीं है आसमान के तले !.....नहीं है ? तो फिर बोल रे मन ! यह हाय-हाय कैसी ?

अनिल दरवाजे पर उतर गया। विनोदिनी साथ न उतरी; अपने यहाँ उतरी। वह नहीं चाहती रही कि अनिल को पता चले कि टैंकसी में क्या उठा। एक किस्सा खड़ा कर देगा खड़े-खड़े वह।

अनिल अंदर गया; देखा—आँगन कितना गंदा है! ऐसा गंदा तो कभी न दीखा था वह। एक ओर टूटी खटिया पड़ी है—बिनावट की रस्सी बिखरी लटों-सी छूट-छूटकर गच चूम रही है; दूसरी ओर एक फटी-सी चीकट चटाई। आँगन के एक कोने में बच्चे का भोर का मल यों ही पड़ा है। उस पर कीड़े रेंग रहे हैं। वह सड़न, वह बदबू है कि नाक फटी जाती है। रसोई-घर की चौखट पर दो कलूटी हाँड़ियाँ लुढ़की पड़ी हैं। सामने अलगनी पर विमला की एक मैली-सी तार-तार हुई साड़ी भूल रही है। और पिछवाड़े की नाली से जाने क्या मैला-सा बह-बहकर उसके आँगन में गंदगी फेंक रहा है।

जाने क्यों वह एकबारगी उखड़ पड़ा। एक तैश में चल पड़ा पड़ोसी के घर। दरवाजे पर जब किसी को न पाया तो घुस गया अंदर। देखा, सामने एक अंधे-सी मुसलमान औरत गंदी-सी एक दरी पर बैठी सुपारियाँ कतर रही है; पानदान के ढक्कन पर पान के पत्ते पसरे हैं।

उसने अकचकाकर मुँह पर अपनी ओढ़नी खींच ली।

अनिल तो ताव में था ही; बोला—“क्यों जी, यह कहाँ का दस्तूर है कि तुम अपनी तमाम गंदगी हमारे ऑगन में बहाती रहो बराबर ?”

“आप अपनी नाली तो साफ़ रखते ही नहीं !”

अनिल ने कड़ककर कहा—“तो क्या इसीलिए ठेल देती हो उधर ?”

“पीकर आए हो न्या जी ! यों घुड़कने से फ़ायदा ? नाली में न जायगी तो कहाँ जायगी ?.....सीधे घुसे आते हैं, जानो खाला का घर हो !”

और अनिल एकबारगी सहम गया। यह पीकर आनेवाली बात उसे लग गई। वह फॉरन् दुम दबाए लौट पड़ा और धम्म से अपनी टूटी चौकी पर बैठ गया—चपत खाए हुए बच्चे की तरह !

देखा—वही अंधेरी कोठरी है, वही सड़ी-बुसी गंदगी; वही टूटी गच, वही फटी दीवार ! हाय ! कहाँ वह पैलिटी का रंगमहल, कहाँ वह बमपुलिस ! वह नाहक गया पैलिटी में चाय पीने ! घर लगा है जैसे काटने; और यहीं काटनी है सारी जिन्दगी !—दीवारें दाँत दिखाएँ या आँख !

आज जाने क्या हो गया कि चिर-दिन के घर-संसार, पद-वेतन, खान-पान, लिवास—किसी में कोई रस न रह गया। यों एक पल में सबकुछ उसकी आँखों से उतर गया। वह कोई नहीं, किसी लायक नहीं; बेकार का बस यों ही है !—यह आत्मधिकार उसके अंदर की पोर-पोर में भर गया। यों जानने को तो उसका रोआँ-रोआँ जानता रहा कि वह क्या है—एक बदनसीब दरिद्र। मगर उस चेतना की तह में तो कभी आज-जैसी कोई वेदना न थी, जो उसे एकबारगी मसलकर धर दे ! वह विलायती फैशन के पुराने परचे हाथ में लेकर अक्सर सलोने सपने देखा करता रहा; आज लगता है कि किसी स्वप्न-रचना का अधिकार भी जैसे छिन गया हो उससे !

...हिश्! पैलिटी गया ही तो हुआ क्या ? जान तो लिया कि वह दुनिया क्या है—कैसी ! यों दूर से देखता रहा; आज टटोलकर देख तो लिया कि आखिर यह क्या चीज है, जिस पर जमाना यों टूटकर गिरता है ! कल फिर भी तो देखना है ! वही गुलशन, वही सज-धज, वही रस की चाशनी, वही शीशे की लाल परी और वही इटलाती विनोदिनी !

...ना भाई, नहीं देखेगा, क्या फायदा उससे ? रही विनोदिनी; तो उसे वह जता देगा कि जो हुआ सो हुआ, अब माफ़ करो ! बस, किस्सा खत्म है ।

...और आखिर देख ही लेगा तो हर्ज क्या ? पहचान तो लेगा कि यह दूसरी मंजिल क्या है ! उसकी जैसी तपिश में एक ऐसे दिन की स्मृति भी जब-तब तरावट के छींटे ही देगी । यह सारी जिन्दगी एक ओर, पैलिटी की कोई घड़ी एक ओर—

“मुहूर्त्तं ज्वालितं श्रेयो न च धूमायित चिरम् !”

मगर दो दिन चमन की हवा खाने के बाद कफ़स की तीलियाँ कहीं और लगीं चुम्ने तो ?

अच्छा, यह विनोदिनी भी अजब है ! एक पहेली है जैसे ; एक गरीब पर इतनी माया ? क्यों, उसके पास है क्या, जिस देकर वह अपना कर्ज चुकाए ? जो कुछ है, वह उसे दे देता है तो फिर विमला क्या लेकर जिएगी ? मगर पता क्या कि वह चाहती है यह ? वह चाहने जायगी ही क्यों—क्यों चाहने जायगी ? उसको कमी किस बात की ?

मगर यह उसके होठों के सामने यों रस के पैमाने छलकाना ! दिल ही तो है, कहीं उसने होंठ गड़ा दिए तो... ? ना भाई, दिल कड़ा रखो—क्या

जाने कब क्या चाह बैठे वह !

“‘असर’ तैरे कूच से बच-बच के निकला
अभी हांश इतना है दीवानगी मे !”

यों गुनगुनाते एक भपकी-सी आने लगी—अनिल लगा झुकने ।

तभी एक खट् की आवाज़ पर आँखें खुल पड़ी । दखता है कि सामने
किवाड़ के दोनों दानों पल्लों पर हाथ रख एक मस्तानी अदा से विनोदिनी खड़ी
है । लटें खुली हैं । सीने का आँचल भिर-भिर हवा में थिरक रहा है । बत्ती
की लौ में उसका चेहरा जगमग है । हैं ! इतनी रात गए वह क्या चाहती
है भला ?

और वह एक टक यों देख रही है, जैसे कोई खुद पूछ बैठे कि ‘क्या
चाहती हो विनोदिनी ?’

कि अनिल अकचकाकर पूछ ही तो बैठा—“क्या चाहती हो विनोदिनी ?”

“क्या चाहती हूँ ?” भला वह क्या कहे कि क्या चाहती !

यह क्या ! वह तो एकबारगी लजा गई ! निगाहें झुक पड़ीं । और, यों
लजाकर जैसे कह गई कि वह क्या चाहती है !

अनिल शायद उसका सवाल समझ गया । पर वह जवाब क्या दे ?
विमला का सवाल जो आ जाता है सामने !

अनिल के चेहरे का असमंजस विनोदिनी पर खुलने को बाक़ी न रहा ।
यही पढ़ते-पढ़ाते तो उसकी जिन्दगी बीती है ! वह ताड़ गई कि अनिल का
दिल उस की मुठ्ठी में है, उसकी हथेली पर नहीं । बस, चट पहलू बदल
दिया । आँखें नाचकर बोली—“तुमने क्या समझ लिया कि हम क्या
चाहती हैं ?”

अनिल क्या कहे कि क्या चाहती है !

वह शरमा गया । आँखें नीची कर लीं और यों लजाकर जैसे कह गया कि वह क्या चाह रही है ।

“अरे भाई, हम चाहती हैं तुम्हें अपने सामने बिठाकर रात का खाना खिला देना । यह भार तो आज हमीं पर है—भूल गए ? और तुमने समझ लिया, जाने हम क्या चाह रही हैं ।”

“तुम ऐसी एकटक देख रही थीं कि क्या बताऊँ ? ऐसा लगा—ऐसा लगा, जाने—”

“क्या ?”

“कुछ नहीं, जाने दो ।”

“अरे भाई, हम अपने लिए कभी कुछ चाहेंगी तो जानती हैं कि तुम ‘ना’ नहीं करोगे—हमारी माँग लाख वैसी क्यों न हो ! इतना भरोसा तो जरूर है तुम पर !” “अच्छा तो लो, उठो ।”—और दरवाजे की ओर मुड़कर बोली—“अरे ओ पलटू ! थाल दिए आ अंदर ।”

“यह पीने को भी लाई हो क्या ?”

अनिल ने देखा कि विनोदनी ने हाथ में एक शीशे की सुराही की शकल जाने क्या थाम ली ।

“एक जरा-सी शेरी तो है ! चखकर देखो, कैसी भूख खुल जाती है ।”

“जैसे कि भूख की कमी है यहाँ ! वह भूख के भूखे तो पेटभरे हांते हैं भाई !”

“वाकई तुम तो बड़े वह हो जी ! लगे बाल की खाल खींचने !”

अनिल ठठाकर हँस पड़ा—“क्या खूब ! यह तो अच्छा रहा—खाने को

लिट्टी और पीने को शेरी !... शराब तो * खैर, हमने पी ही ली विनोदिनी !
मगर इस पीने की शर्म को जो नहीं पी पाता !”

“अभी तुमने पी ही क्या है ? शर्बत न पिया, शेरी पी ।”

“सो तो तुम्हारे लिए न शर्बत है ? हमारे लिए तो विष है जैसे । ..
अच्छा, लाओ, तुम्हारे हाथों इस विष में भी एक रस ही है !”

और अनिल ने हाथ बढ़ाकर उसके हाथों से शेरी की सुराही थाम ली :



विमला आने को तो आई, मगर रास्ते भर जैसे हाथ मलती आई कि क्यों आई ! गाड़ी पर सवार हुई नहीं कि किए की प्रतिक्रिया सवार हा गई उस पर ! एक कौंटा-सा चुभता रहा बराबर—कहीं विनोदिनी नहीं गई तो....? आखिर चंद घंटे तो तारकेश्वर में ठहरना है । इतने में मैं आपबीती क्या सुना पाऊँगी और क्या भगवान की ओर से संकेत पाऊँगी ? वहाँ बे-खाए-पिए जाने कितने दिन लोग सर खपाते हैं तो कहीं कुछ जान पाते हैं । और, यहाँ यह तब्य है कि गई और पा गई एक छोर ! क्या चाहना है यह ! —मगर अंतर्धामी से तो छिपी नहीं है बेवसी मेरी ! है कोई बस मेरा घर में !

देवता की पूजा और पूँजी पास नहीं । हाँ, आने-जाने के किराए से छुट्टी रही और महादेव के दर्शन हाथ आए, यही क्या कम है ? आखिर आशुतोष को रिझाने के लिए एक लोटा पानी और बेल के पाँच पत्ते काफ़ी हैं ।

बस, कपूर की एक आरती और दो आने के फल-फूल पर निभ गया जैसे-तैसे । स्टेशन के छोटे बाबू के संबंधी होने की वजह पंडों ने कोई वेसा रिगरिगाया नहीं । और विमला अरघे पर सर रख पानी की जगह आँसुओं से महादेव को स्नान कराने का सुयोग पा- गई !

और किसी ने चाहे जो खाया-पिया, मगर विमला ने तो मुँह के अंदर एक बूँद जल तक न रखा। यों ही पड़ी रही महादेव के ध्यान में। वह क्या दर्द लेकर आई है, यह रहस्य तो वह अपनी सास और ननद पर भी खुलने देने को तैयार न थी! बस, उधर एक अंतर्मात्री हैं, और इधर वह। कोई दलाल नहीं, कोई वकील नहीं; कोई आचार नहीं, कोई उपचार नहीं!

दुखिया थी जैसी वह! रात-भर सोई नहीं बेचारी। भगवान् के ध्यान में दसों नख जोड़ बैठी रही—बैठी रही। आधी रात के जरा-सी भपकी जो आई, तो उसे लगा कि कोई कंधे भकभोर उठा रहा है कि अरे उठ, घर चल; यहाँ क्या पड़ी है बेसुध—अब नहीं तो फिर नहीं।

और, वह धड़-फड़ उठ पड़ी। देखा, पौ फटने पर आई है। और जीजी पास में सोई मुन्नी को भकभोर रही हैं—‘ले, अब उठेगी कि तेरे लिए गाड़ी खड़ी रहेगी किरन फूटने तक!’

हाय रे करम! जिस बात समाधान के लिए जान हथेली पर रखकर वह यहाँ तक आई, सो तो यों ही रह गई। घर जाने को तो वह जा ही रही है भोर की गाड़ी से। कोई सपने में कहता तो, न कहता तो!

सब लौट पड़े। मेन लाइन पर आकर गाड़ी बदलनी पड़ी। जनाना डब्बे में किसी तरह पैर रखने की जगह मिल गई। उसके साथ जाने कहाँ की एक बुढ़िया भी पिल पड़ी। डब्बे में उसने कदम रखा और फट पड़ी सामने की बेंच पर बैठी एक बीस साल की छोकरी पर—“यह लो! यह सोना-बहू है क्या? भला तू कहाँ चली इधर? तुझे तो परसों ‘देवघर’ में देखा था न?”

सोना-बहू ने कहा—“पुरी जा रही हूँ मौसी!”

“और सोना कहाँ है ?”

“वह तो अभी चटगाँव में ही हैं। छुट्टी नहीं मिली।”

“तो पुरी क्या जा रही है त ? है भी कोई साथ तेरे।”

“हाँ, एक-आध संगी हैं मुहल्ले के।”

“दर्शन को जा रही है ?”

“तो भला और क्या जाऊँगी वहाँ ?”

“मगर ऐसी है तू !” “अपने सवाँग से पूछा तक नहीं और चली सैर करने। कहीं इस बीच वह घर लौट आया तो ?”

“फौज में जाने किस काम में हैं वह। उन्हें छुट्टी ही कहाँ मिलती है !”

“मिलती क्यों नहीं ? खूब मिलती है। वह मुनिया का बेटा भी तो है चटगाँव। साल में जाने कितनी बार घर आ चुका। तू बड़ी वैसी है बहू ! यह जिस-तिस के साथ फिरकी बनी फिरना—चाहे तीरथ ही क्यों न हो—किसी बहू-बेटी को नहीं सोभता। भला-बुरा जो कुछ भी कर, उससे पूछ लिया कर। न पूछ पाई तो किसी ग़ैर से सुनने के पहले आप ही उसे जता दे। नहीं तो देख लेना बहू, कहे देती हूँ—यह मटरगशती एक दिन बीत जाएगी तेरे सर !”

सोना-बहू समझ सकी या नहीं, तीर की तरह यह बात विमला के कलेजे में चुभ ही तो गई। बस, आज ही घर पहुँचकर जना दो। यह जैसे भगवान् की ही ओर से संदेश मिल रहा है। यह बुढ़िया तो एक बहाना है बस ! किसी एक की न सुनो, देर हुई की बस, गई तुम।

मगर घर पहुँचकर पाती है कि अनिल ओसारे में खाट पर बेखुबर सो रहा है ! उसका माथा ठनका— इतनी देर तक तो यह कभी सोते नहीं।

आज क्या है कि आँखें अभी तक लगी हैं ?.....तो रात-जगे हैं क्या ?.....हो-न-हो, आज किसी त्योहार की छुट्टी होगी, ऑफिस जाना है नहीं, तभी यह नवाबी है। जैसे घोड़ा बेच सोये हैं तानकर !

और उसने प्रसाद की माला उसके गले में धीरे-से डाल दी। सर पर आशीर्वादी बिल्व-पत्र रख दिए। सिरहाने बैठ गई, आँख खुलने की प्रतीक्षा में। यह तो तय है कि वह आना-कानी न करेगी, कह ही डालेगी इसी दम।

वह मन-ही-मन लगी मसविदा तैयार करने कि क्या कहेगी और कैसे कहेगी। फिर, सोचते-सोचते इस जगह पर आई कि तारकेश्वर-दर्शन की चर्चा छेड़ उस यात्रा के उद्देश्य पर आएगी और यों बातों के सिलसिले में बात खुलकर रहेगी। अब यह आँख का काजल चुराए चलना, चलने को नहीं।

तभी जीजी की कड़कती आवाज उसके कानों पर गूँजी—“हाँ री बहू, कंट्रोल से चावले न आएगा क्या ? हाँड़ी न चढ़ी तो अनिल खाएगा क्या, तेरा सर ?”

“आई”—कहती हुई वह जो उठी तो देखती है कि अनिल की आँखें खुल पड़ी हैं। उसने बाँहें पसार अँगड़ाई जो ली तो गले की फूल-माला पट-से टूट गई, और अनिल चौंक पड़ा—“हैं !”

इधर माला टूटी, उधर विमला का दिल टूट गया जैसे। बोली—“प्रसाद की माला है।”

“तब तो हम नहा-धो लेते तो देती। शुद्ध-अशुद्ध जैसे भी हों, गले में डाल दी माला ! क्या शऊर है तुम्हारा ! लो, टूट गई न ! भगवान् से थोड़ी अकल क्यों न माँग लाई ?”

और अनिल अँगड़ाई लेकर ज्यों ही उठा कि उसकी निगाह आँगन की रातवाली गंदगी पर पड़ी । भिन्ना पड़ा— ‘देखो तो कितना गंदा कर रखा है घर-आँगन—सूअर का खोभार हो जैसे ! उठो, आज यह सारी गंदगी साफ़ कराकर तो कोई दम लेगा । रहा दिन का खाना ; तो कहीं से कुछ कच्चा-पक्का चला जायगा । आज तो बस, यही एक धंधा है सबके सामने ।’

अनिल ऑफिस से लौट रहा है ।

वही डलहौसी है, वही सबक की पटरी । वही शाम की सुनहली बेला,
वही भिर-भिर हवा ।

मगर यह क्या ! कदम रुक-रुककर पड़ रहे हैं आज । वह खड़ा हो-होकर
निगाहें दाएँ-बाएँ फेंक लेता है—जैसे किसी का इन्तजार हो !

लो, और एमे खोए-से चलो ! टकरा न पड़े खोंचवाले से नादक !

अब सुनो उसकी प्रवृत्तियों !

“आँखें फूट गई हैं क्या ? सूझता नहीं ?”

अनिल चौंक पड़ा । देखा फुटपाथ के बीचो-बीच एक खोंचावाला खड़ा
है । एक छोटे-से मोढ़े पर खोंचा है—उसमें चंद चटपटी चीजें हैं । दाईं
ओर दफ्तर के बड़े बाबू हैं—पत्ते का एक दोना हाथ में लिये ।

खोंचवाला है जरा चरफर । छोटी-सी एक हँडिया से तक्रर में तर दही-
बड़े निकालकर बड़े बाबू के दोने में छोड़े जा रहा है हौले-हौले । और बड़े बाबू
उसे रस में लपेट-लपेटकर ऊपर को उठे मुँह में ताबड़तोड़ रखते जा रहे हैं ।
मूँछों में टंगी एकाध बूँदें जब-तब टपक-टपककर कोट पर बैठ रही हैं । तो
क्या, बैठें, कोई परवा नहीं । सामने जाने कहाँ के दो ठिंगने छोकरे चियों-सी
सूरत लिए एकटक आँखें गड़ाए दही-बड़े को जैसे खाए जा रहे हैं । हाय-हाय,
कितनी—कैसी तीखी ललक है उनकी आँखों में ।

मगर बड़े बाबू शायद ऐसे रमलीन हैं कि उन्हें पता भी नहीं कि वे एक तमाशा हो रहे हैं औरों के लिए— एक उद्दीपना है उन भुतनों के लिए ।

आखिर कोई एक दर्जन दही-बड़े लामहाले आँत की तहों में डाल उन्होंने हाथ के दोने को पटरी के नीचे पेंक दिया—कि भपाक् से दोनों छोकरे दूट पड़े उस दोने पर । खींचतान में दोना जो चिट से हो गया तो दोनों के हाथ एक-एक पत्ता आ रहा । और बस, लगे वे लप् लप् चाटने ।

बड़े बाबू की निगाह जो उधर गई तो शायद वही दिल के अन्दर दर्द ने चुटकी ली । जब टटोल एक दुअन्नी अनिल के हाथ में ठेकर बोले—“लो भाई, इन्हें एक-एक आना देते जाना । न जाने इनकी आँखें कैसी हैं !”

और वह हाथ-मुँह धो चलते हुए । अनिल ने उन छोकरों की ओर मुड़कर कहा—“ले बे, यह दुअन्नी ले । कुछ चना-चबेना बाँटकर खा लेना । खबरदार, जो भगइना ।”

बड़े लइके ने आगे बढ़कर दुअन्नी थाम ली और चट दही-बड़ेवाले की ओर बढ़कर कहा—“लाओ जी, चार पैसे के दही-बड़े और चार की पकौड़ियाँ । हाँ, पहले पकौड़ियाँ दे लो ।”

“नहीं जी, दही-बड़े चलाओ”—दूसरे छोकरे ने संशोधन पेश किया ।

अनिल टमक पड़ा । बोला—“अबे दही-बड़े के बच्चे ! यह क्या कर रहा है तू ? कोई सरता-सा भूँजा क्यों नहीं ले लेता कि पेट के अंदर कुछ खाया-सा भी जान पड़े ।”

मगर वे काहे को सुनें ? दही-बड़े की चाट ही ऐसी थी कि आँख, कान और रसना तीनों जैसे पेट के खिलाफ़ पिकेटिंग के लिए कमर कसे तैयार थे ।

दही-बड़ेवाले ने पत्ता उठाया और एक दही-बड़ा बढ़ा दिया । अनिल ने

टोका—“अरे भाई, दोनों को एक-एक भी तो दिए जाओ !”

“तो लाइए एकजी और ! अब वे दिन गए बाबूजी, कि दुअन्नी के ऐसे दो आएँ । बाजार की गर्मी का पता दे आपको ?”

“अजी, जरा दिल में दर्द भी रखो । देखते नहीं इनकी सूरत ?”

“हमारे भी तो तीन-चार हैं, बाबूजी ! उनको तो देख ही नहीं पाते, किसी और को देखने का बूता कहाँ !”

और कबल इनके कि कोई कुछ कहे, उस दही-बड़े के पत्नी को सामने की ईंट पर रखकर उसने अपना खोंचा सँभाला और लचीले सुर से होंक लगाता चलता हुआ ।

उधर दोनों छोकरे एक साथ चील-भपट्टे से उस दही-बड़े पर टूट पड़े ।
आधे-आध बाँट लें—इतना ताव किसमें है !

बस, एक कुश्ती छिड़ गई । दही-बड़ा तो मसलकर भुरता हो गया ।

अनिल ने बड़े के सर पर एक चाँटा लगाकर कहा—“ले, और जीभ के फेर में पड़ ! माँगने को भीख और चले हैं दही-बड़े चाबने !”

हठात् अनिल के अंदर एक आवाज गूँजती हुई उसकी चेतना पर टकराई—“और तू ? तू क्यों बूढ़ रहा है विनोदिनी को आज ? यह दिनर की चाट क्या है ? अपनी आँख का मॉँड़ा नहीं देखता, चला है औरों की फूली देखने ?”

और वह एकबारगी सिमट गया—ना भाई, घर चलो ; यह अमीरी की चाट आई तो गए ! कहीं विनोदिनी टपक पड़ी तो फिर नाहक खींचतान होगी । ऐसी की न आस रखो, न पास जाओ । वह हो गया एक दिन—बात रख ली । फिर उस मायामहल में कदम रखना साँप के फन से खेलना है गोया ।

जो सुनेगा वह तो हँसकर छींटे कसेगा ही कि यह लो, मेढ़क को भी जुकाम हो गया ।—घोड़े की देखा-देखी उसने भी नाल बंधाने को टाँग उठाई !—अपना जी भी तो उठ-उठकर बैठता रहेगा छटपट । बस, एक बार चख ली, यही इद्द है ।....मगर हाय री नियति-नटी की छलना, वह मुस्कुराई भी तो मुस्कुराकर रह गई ।

वह लालदिग्घी का चक्कर देता जब पैलिटी के सामने आया तो पैर जैसे सट गए ज़मीन में । देखा, वही चहल-पहल है, वही रंग-ढंग; एक वही नहीं है । आज भी चाय चलती होगी, बोटलों के कार्क उड़ते होंगे, भीनी साब्रियों की अठखेलियाँ होंगी, निगाहों की बिजलियाँ होंगी—एक वह न होगा, आँर कभी न होगा ।.....

अजी, राम कहो, न होगा तो क्या होगा ! किसी के होने, न होने से कोई अनहोनी तो होती नहीं । कौन कहे कि पैलिटी में चाय न पी तो फिर कहीं वैसी मिलेगी ही नहीं !.....मिलेगी वैसी ?—वैसी चाय, वैसी पैन्ट्री, वैसी प्याली और वैसी..... ? मगर वैसी मिलती तो पैलिटी आज पैलिटी होती ? बला से न मिले वैसी ! वह कोई अमृत तो है नहीं कि न मिली तो अनिल की आँते उलटकर गले में आ पड़ेगी । छोड़ो यह चसका । चल रे मन, आगे बढ़ । आखिर तू कितने पानी में है, इसे न भूल.....अरे, यह तो वही कलवाला वेटर है ! कहीं सामने आ पड़ा तो टोक ही देगा—‘हुज़ूर, चलिए न अंदर, चाय तैयार है !’—तो बस, वह कह देगा—‘आज फुरसत नहीं, फिर किसी दिन ।.....’ ओ हो ! इस ‘फिर’ की भी एक ही रही ! भूठी शान, कि मुँह का पानी न उतरे ।

और अनिल आप-ही-आप अपनी बेवसी पर हँस पड़ा ।

“... दुत ! हँसने की कौन-सी बात है ! तो क्या वह कहेगा कि वह भूल पड़ा था कल ? नहीं, अब नहीं । यों अपनी भद् करके धर देगा उस दो पैसे के वेटर के सामने ।

दो पैसे का वेटर ? अजी वाह ! वह दो पैसे का वेटर है ? और तुम— कितने पैसे के क्या हो ? यह अकड़ ! कौन कहे, पैलिटी का वेटर एक छोटे-से ऑफिस के किरानी से कहीं खुशहाल है ! और तो और; उसकी एक टिप् की आमदनी ही जाने कितनी उठती होगी महीने में—अपनी तनख्वाह से कईगुनी”

कि देखा, रमेश सामने है । उसके चेहरे पर कलवाली व्यंग्य-भरी मुस्कान-की-सी लहर है— “ओ हो ! पैलिटी से ?”

“जहन्नुम से !”

“मगर कल तो तुमने पैलिटी में ही चाय पी, और”

“वैसे भूल पड़ा था एक दिन, माफ़ करो ।”

“अच्छा, वह जो तुम्हारे साथ टैक्सी में थी, सो ? कोई जानी-पहचानी है या”

“रह गए तुम यों ही ! जानी-पहचानी न होती तो फिर साथ कैसे होती ?”

“नहीं, हमने समझा कि पैलिटी में आँखें मिल गई होंगी और बस”

“पैलिटी तो जैसे हम रोज़ आते हैं !”

“चाहे कुछ भी कहो, मगर हो यार, तुम किस्मतवर !”

“सो कैसे ?”

“हमारी अंधेरी रात में मी घड़ी-भर चाँदनी आने को है ?”

“तो यह बुरा क्या है भाई ! वह आती है तो बिजली-सी छन-भर चमककर रात को और भी अंधेरा कर जाती है ।”

“मगर हम-जैसे किरानी की तो सुबह ही शाम है -- तुम्हारी जो हो ।”

“क्या खूब ! हम तो जैसे बड़े आए हैं जाने क्या होकर ! एक पल पैलिटी क्या गए कि स्वर्ग उतार लाए जैसे जमीन पर ! घर का यह हाल है कि एक जून मौँड़-भात—वह भी अधपेटा । विमला के तन पर साबित एक चिट भी नहीं ।”

“तो फिर नाहक लौ लगाने गए ?”

“उससे नजात है किसी की ? यह वह, एक-न-एक लगी ही रहती है—कहीं रहो ।” “क्या बताऊँ—

“काश पृछे कोई मेरे जी से,
वेकसी में बाहर का आलम ।”

रमेश मुड़ गया अपने मेस की ओर ! अनिल आ पड़ा चौरंगी पर ।

“...भूल गई क्या विनोदिनी अपना वादा ? बच्चों की बात ठहरी ! यह आई, वह गई ! हाय, जालिम ! तुम्हें वादा आता है, वफा नहीं ।
अजी, छोटो, अंगूर खट्टे हैं ! जान बची चकर से ! यह काली के हीले कलिया खाना ! राम-राम !

और तब उसने पकड़ी अपने घर की गली । मगर जाने क्यों, मोड़ पर ठिठक गया । ‘एक बीड़ी देना भाई !’—वह मुड़ गया बाईं ओर, एक पान की दूकान पर । पैसे तो पास थे नहीं, जेब पर हाथ जाते ही झेंप गया । दूकानवाले ने बीड़ी तबतक बढ़ा दी—“न लोगे क्या ?”

“पैसे तो भूल गया !”

अनिल आगे बढ़ा । दो कदम भी गया न होगा कि देखता है—रिक्शे पर विनोदिनी जाने कहीं से चली आ रही है । एक निराली सज-धज है आज ।

विनोदिनी ने हँसकर कहा—“तुम यहीं हो ?”

“वाह ! तुमने भी समझ लिया कि पैलिटो में बैठ गया था चाय पीने ?”

“यह अच्छी कही ! तुम्हें पैलिटो क्या ले गई कि तुम्हारी जवान खुल गई ! कहीं डिनर खा लोगे तो जाने क्या-क्या ताने कसोगे !”

“डिनर के लिए तुम्हारे सिर नहीं हैं यहाँ ।”

“तो क्या हुआ—हम तो हैं !”

“तो सुनती रहो ताने !”—अनिल ने मुस्कुराकर कहा ।

“यह भी गनीमत है । एक छेड़ तो रहेगी ! प्यार की बातें सुनें, यह नसीब कहाँ ?” “अच्छा, तो लौट चलो । उधर सिनेमा भी देखेंगे और फिर-वहीं से ।”

“मगर, विनोदिनी !....”

“फिर वही अगर-मगर ! बात एक होती है । बस !”

और ईमान की लाल आँखों के जवाब में एक छोटा-सा ‘मगर’ पेश कर अनिल जैसे निरस्त हो गया । बोला—“तो ठहरो, जरा कपड़े तो बदल आऊँ ।”

“और कहीं घर पर किसी ने कुछ ”

“मजाल है ! यहाँ सुबह ही कह रखा है कि आज बाहर खाना है ।”

बस, यों बंदूक की नाल से गोली छूट गई ।

सिनेमा में अनिल बैठा तो साथ; मगर डूब गया तमाशे में। तमाशा था भी कुछ ऐसा ही दिलचस्प ! जाने किस मुद्दत पर उसकी आँखें जुड़ाईं आज। वह भूल गया अपने को—भूल गया विनोदिनी को भी।

मगर, विनोदिनी तो अपने लिए लाई थी उसे और देखा कि वह तो तमाशे के रंग में आ गया; किसी ओर मुड़ता तक नहीं। एक ही सोफ़ा, अंधेरा भी कैसा सुहावना ! पर उसके किसी अंग में जैसे कोई हरकत ही नहीं। साथ बैठे हैं और जैसे कोसों दूर हैं। क्या करे वह ? जानती तो सिनेमा आने का नाम तक न लेती। कहीं और ले जाती डिनर से पहले।

सिनेमा के बाद डिनर का सिलसिला आया ! दूध का जला मट्टा फूँककर पीता है। विनोदिनी उसे डिनर-हॉल में न रख, एक अलग सैलून में ले गई। कहीं उसे बड़े हॉल में रखती तो फिर वह उसी का होकर रहता, विनोदिनी का नहीं। नए-नए जलवे देखता, नए-नए तमाशे; नए-नए शृंगार, नए-नए हाव-भाव। एक उसी को थोड़े देखता, एक उसी की थोड़े सुनता !

कलकत्ते के किसी बड़े होटल का डिनर सरापा एक रस का संवार है बस। खाना तो, ख़ैर है ही—वह बेनज़ीर कि ज़बान लपट जाय—उसे छोड़ो; लुत्फ़ है देखने का और सुनने का भी—ऐसा कि दिल लोटकर रह जाय। रसना ही एक रसलीन रहीं होती; आँखें भी, कान भी। रूप, रस, गंध, स्वर, स्पर्श—क्या नहीं है वहाँ ? मजेदार डिशें, हुस्न की हिलोरें, गाने

के लहरे, खुशबू के तरारे; और सब पर धाला—अंगों से अंगों में विजलियों के गुदगुदाते इशारे ।

विनोदिनी क्या पगली थी कि इस चौतरफ़ी रस की फुहार के अंदर रखती अनिल को ? जैसा भूखा है वह—आँखें भूखीं, रसना भूखी, कान भूखे—अंग-अंग भूखा ! उफ़ ! एक कहीं के भुक्खड़ से पाला पड़ा है उसका ! जहाँ ज़रा-सा रस पाता है, नाक-मुँह डुबो देता है बे-अख़्तियार । दामन पर छींटे पड़ने की भी परवा नहीं रखता । सिनेमा साथ ले जाकर देख लिया उसने कि क्या टूट है रस की एक हल्की-सी चाशनी पर । जैसे पहली बार बुलबुल ने बहार देखी है—कली-कली के मुँह को अंधाधुन्ध चूमती फिरती है ।

मगर वह सोचती है कि आँख, कान या ज़बान भूखी जो हों, उसका हृदय तो भूखा होगा नहीं । वह तड़पकर रह जाती है—काश, यहाँ भी कोई गुंजाइश हो पाती ! यह आँख, कान और ज़बान की भूख एक ओर, प्राण की भूख एक ओर । जब वह लोलुप नहीं तो फिर किसी हृद्रिय की लालसा कबतक और कहीं तक उसे विनोदिनी की उँगलियों की पोर पर रख पाएगी ! बस, एक उम्मीद इतनी है कि इस रस और शृंगार की लहर में पड़ बड़े-बड़े अखादियों के पैर उखड़ गए हैं—अनिल की क्या विसात !

वह जानती है कि उसे घर पर प्रेम का अर्घ्य मयस्सर है जरूर; मगर वह यह भी जानती है कि उस रस में न तो उफ़ान है, न अभिव्यंजना । रूप भी है अपने तर्ज का सलोना; पर न उसका निखार है, न शृंगार । बस, इतनी ही सी पूँजी पर यह अकड़ है; इतनी ही सी सत्ता पर यह एँठ ! मगर यह सब है, जबतक उसके सामने न चमन की रंगीनी है, न साक़ी की

जादूनजरी। अनिल जैसा अंदर से लोलुप दीखता है, वह प्रिय के आगे पथ्य पर, चटक के आगे ठोस पर कभी पैर रोपे टिक नहीं सकता। एक पेट की जलन ही ऐसी प्रलयिनी है, जो उस वासना को कुचलकर रख सकी तो रख सकी, नहीं तो कोई चारा नहीं। जहाँ पेट में अन्न पड़ा और हवा में मल्य की एक लपट-सी आई कि मन में मनोज तड़पा और फिर कौन ऐसा माई का लाल है कि उसकी उड़ान के पर बौध दे ?

अभी तो सिलसिला शुरू ही हो रहा है। सारी रात धरी है। उसकी कम्मान आते-आते आगयी। वह ऐसी नहीं कि वह आई, यह गई !

सैलून के अंदर कोई और नहीं। बस, विनोदिनी और अनिल। वेटर भी आता है डिश लिए तो किवाड़ पर एक सलीके की आवाज़ देकर, यों धड़धड़ाता नहीं। कमरे में रोशनी है मीठी, बाजे की गूँज है सुरीली।

अनिल चुप है; विनोदिनी भी चुप है। मगर रह-रहकर आँखों की ज़बानी जाने क्या-क्या चल रही है गुपचुप। अनिल सोच रहा है कि वह आज इस स्वर्ग में है और विमला उसी रसातल के अतल तल में। काश, विनोदिनी की जगह विमला होती और विमला की जगह विनोदिनी ! नहीं-नहीं, कहीं तुलसी की जगह जूही-चमेली ले सकती है या चमेली की जगह तुलसी ? चमेली के आगे हम दीप नहीं दिखाते; ड्राइंग-रूम के फूलदान में हम तुलसी की डाली नहीं सजाते। पूजा के वक्त तुलसी की माला आती है और सैर-सपाटे के वक्त बेलों का गजरा !

मगर वह दिखा पाता है अपने आँगन की तुलसी के आगे दीप कभी ? भूलकर भी ली उस कल्याणी की आरती किसी दिन ? क्या ले ? गरीबी की चक्री में पिसकर क्या-से-क्या हो गई है बेचारी ? कभी जो उसने कोई माँग

पेश की हो—बस, दिए जा रही है बराबर । जैसे लेना उसकी घुट्टी में पड़ा ही न हो ।

वह तो, खैर, अपनी है ही । यह विनोदिनी तो अपनी कोई भी नहीं । यह क्यों जैसे लुट रही है एक-दो दिग के परिचय पर ! यों लुटने के लिए तो एक पल काफ़ी है, नहीं तो एक झल भी नहीं । मगर वैसा दिल-फेंक न तो वह है, न हम ।

जो हो, यह उसके हाथों सर रोप लिये जाना बड़ा वैसा-सा लगता है आखिर । हमें भी तो हाथ बटाना चाहिए अपनी ओर से । दिल नहीं दे पाते हैं, आँख तो दें—जबान भी तो दें ! यह यों बे-दिए लिये जाना भला कोई बात है ? मगर वह इस छेड़ को कुछ बुरा तो न मानेगी ?.....और, बुरा क्यों मानेगी वह ? वह तो अंदर-ही अंदर खुश होगी । वह क्या कोई वैसी है, जैसी विमला—‘एकै धर्म, एक व्रत नेमा ।’

वह तो खुद कहती है कि शरीर की भूख स्वास्थ्य की एक सहज वृत्ति है । उसमें न वह किसी नैतिकता को टोंग अड़ाने देगी, न समाज की किसी परंपरा को । आदर्श और विचार तो सतह पर तैरकर रह जाते हैं । उनकी एक नहीं चली कभी किसी बुनियादी माँग के आगे ।

मगर एक अचरज है—यह हमारा-उसका साथ ! आखिर हम क्या देख पाते हैं उसमें, और वह क्या देख पाती है हममें ! आँख का नशा भी रहता तो क्या-का-क्या दिखा देता । हो-न-हो, उसे भी किसी नई दिलचस्पी की तलाश है और इधर भी एक निराली दुनिया की झलक ! बस, यह किसी नई लज्जत की चाह है, जो दोनों के बीच सेतु बनकर यह तमाम जलवे दिखा रही है । नहीं तो, न वह कुछ देख पाती हममें, न हम कुछ पाते उसमें ।

और, यों तो....!

और, मुस्कुराते हुए अनिल ने छेड़ ही तो दिया—“वाह ! आज कुछ पियोगी नहीं क्या ? बस, गंगाजल ही पर कटेगी ?”

विनोदिनी भी मुस्कुराई वह तो इसी ताक में भी कि हवा का रुख आखिर किधर है । वह कॉकटेल को बिलकुल पी ही गया क्या—फिर पीने का नाम न लेगा ? कॉकलंटे भी रह गया मुँह लिये—एक-दो पैसे के किरानी के संयम के आगे ! वह उफनाती अंगूरी भी न खींच सकी । आदमी एक बार उसे पी तो ले ! फिर तो वह खुद लगती है उसे पीने ! अगर अनिल पर वह कोई असर न ला सकी, तो फिर शायद विनोदिनी भी कोई असर न ला सकेगी उस पर । वह तो उसी फा पल्ला थामे आती ! यों आने की गुंजाइश तो होती नहीं । यह मुँह की लगी है, जो कोई दिल की लगी भी ढूँढ़ती है । अगर प्याला लहू तक न उभार पाया तो फिर निखर चुका दिल, सिहर चुकी आँखें !

आज अनिल की यह चुप्पी देखकर वह एक सक्ते में आ गई थी । लिहाज पर जब हवस बोल न उठी तो फिर वह हवस क्या ? वह चाट क्या, जो उचट गई—वह प्यास क्या, जो पलट गई !

विनोदिनी मुस्कुराती हुई बोली —“तुम ऐसे चुप क्यों थे ? क्या अभी तक तुम्हें लिहाज है हमसे ? हम तो कोई परदा रखना नहीं चाहती । तुम मर्द होकर पर्दा करते हो ?”

विनोदिनी बाजी ले गई ।

वह ठहरी होस्ट, उसे ही चाहिए था पूछना । अनिल कैसे आते मुँह खोल बैठा ? कह न उठती वह कि लो, यह मुँह-नाक डुबो पीने आया

है—जैसा प्यासा है यह ! मगर वाह री विनोदिनी ! किस बारीकी से तुमने इलजाम मढ़ दिया अनिल के सर—जैसे वही ज़िम्मेवार हो इस चुप्पी का !

अनिल ने सोचा कि इस नहले पर दहला न दिया तो फिर क्या ।
बोला—“हमने अपने लिए तो कहा नहीं, विनोदिनी !”

“हमारे लिए ? और तुम ?”

“हम क्या बे-पिए हैं ? तुमने आँखें मिलाकर वह चूर कर दिया है कि बस !”

“क्या कह रहे हो तुम !”

“यही कि तुम्हारी आँखें पिला ही रही हैं । क्या पाएगा कोई बोलती पीकर ?”

“हमारी आँखें ।”—विनोदिनी का चेहरा जैसे खिल उठा । आँखें भूम-भूम उठीं ।

हाय री नारी ! एक ज़रा-सी रूप की बारीक खुशामद यों तुम्हें कहाँ-से कहाँ उड़ा ले जाती है पल्ल में !

“तुम्हें पता भी है कि एक मस्ती-सी छलक रही है तुम्हारी आँखों में ?”—अनिल ने रद्दे पर रद्दा रखा ।

“दीवाने हो गए हो क्या ?”

“अजी, ऐसा-वैसा !”

“चलो, तुम तो लगे शर्मिन्दा करने । जैसे हमारी आँखों में जाने क्या है !” और, विनोदिनी ने कुछ शर्माई-सी मुस्कराती आँखें नीची कर लीं । एक भोंप-सी दिखाती मचल गई जैसे ।

“इन आँखों से अपने को देख पाती तो समझ पाती कि क्या है ! सच

मानो, कहीं यही नज़र रही तो जाने कितने जिगर खून होंगे !”

“लो; अब न देखूँगी तुम्हारी तरफ़ ।”

“तो चले फिर ‘कॉकटेल’ ही । दूकानी ही सही, यह न पी, वह पी । मगर प्याले में तुम्हारी निगाहों का अक्स न आया तो उसमें नशा क्या होगा, स्वाक ?”

विनोदिनी जैसे उछल पड़ी । अनिल कह गया । उसमें है एक निराला रंग । आज वह किसी बैसी सोसाइटी में रहता तो उसकी अनूठी जवानी ही नहीं—उसकी ज़बान की मोहिनी भी रंग लाती—और खूब लाती । बाहर से तो दिखता है दबू; मगर अंदर से है काफ़ी चर-फर ! वह बदनसीब गरीब ही सही, मगर कितने पैसेवाले उसकी पैनी बुद्धि, हाज़िरजवाबी और रसानुभूति को छू सकते हैं ? आखिर किसी साधन और अवकाश के बग़ैर तबीयत की ऐसी अमीरी कोई दिल्लगी नहीं ।

और, विनोदिनी ने वेटर को बुलाकर दो ‘कॉकटेल’ की फ़र्माइश की ! बस, शराब का दौर शुरू हुआ । उठा एक हल्की गुलाबी से, उतरा ह्विस्की की गहराइयों तक ।

अनिल ने ज़रा मुस्कराकर छेड़ा—“आखिर ऑर्डर तुम्हीं ने दिया । होस्ट को चाहिए भी यही ।”

विनोदिनी सकपका गई । वह उठती गुदगुदी दिल ही में फुरफुराकर रह गई । तो क्या वह सारी दिलजोई निरी मुँहदेखी थी ? एक गँवार के मुँह से बैसी बारीक खुशामद की चुटकी पर एक पल के लिए उसके पैर उखड़ गए जैसे !

“अच्छा अनिल ! तुमने कहाँ सीखी ऐसी चुहलें—ऐसी छेड़खानियाँ ?”

“बस, तुम्हारे-ऐसों की सोहबत में !?”

“क्यों बना रहे हो ? भला तुम्हें वह मिली कब ?”

“क्यों ? किताबों के ज़रिए ! किसी से माँग ली; पढ़कर लौटा दीं ।
शाम की तक्ररीह यही ठहरी ।”

ओहो ! तो अनिल ने देखा नहीं, सुना नहीं, पढ़ा है सिर्फ़ ! भरसक भरा पढ़ा है ! विनोदिनी इस अंजुमन की सैर न कराती तो बेचारा सपनों की दुनिया बसाए बैठा ही रह जाता । बोली—“वही तो कहें, तुमने यह दुनिया कहाँ देखी ? हमें तो तरस आता है उन पर, जो कभी अपने बिल के बाहर आए ही नहीं । खासकर हमारी बहनें, जिनके सामने दुनिया की एक सीमा माँग है, तो दूसरी गोद । सच मानो, परदे की कैद में जकड़ी-सकुची किसी घर की बहू को देखती हूँ तो तड़पकर रह जाती हूँ कि बेचारी फूटने भी न पाई कि रह गई सिमटकर अंदर-ही-अंदर ।”

अनिल को बात जैसे लग गई । उसे लगा कि विनोदिनी अपना पाया मजबूत कर रही है जैसे विमला के खिलाफ़ । बस, एक ताव आ गया—आया ही चाहे । बोला—“मगर सुनो विनोदिनी, अक्सर जब हम नई रोशनी की किसी आज़ाद औरत को देखते हैं तो जाने क्यों; रह-रहकर लगता है कि हाय ! बेचारी ऐसी फूटी कि फूटकर फट गई बिल्कुल ! अगर पर्देवाली विकास की कमी से सिकुड़कर रह गई तो नई रोशनीवाली उभार की ज़्यादती से बेतरह छितरा गई । माना कि पर्देवाली को तरकी की राह न मिली, मगर राह से भटककर वह गुमराह तो नहीं हुई !”

“अजी वाह ! तो क्या भँवर में पड़ उभ-चुभ होने के डर से कोई पानी में उतरे ही नहीं—किनारे पर बैठ कंकड़ी ही चुनता रहे ?”

इधर पीने के साथ-साथ खाना भी दौरे पर आया। आज अनिल ने पहली बार 'सॉस' की चाशनी में घुली पामफ्री मछली चखी। पहली बार फाउल की बिरियानी ज़बान पर आई।

और उसकी आँखों में जैसे आँसू उतर आए—हाय री अपनी किस्मत ! कहाँ वह मॉड-भात या चोकर की खुरखुरी लिट्टी—कहाँ यह रसवंती, यह ऐसी बहिश्ती !

आज खा लिया तो मुश्किल, न खाता तो मुश्किल। न खाता तो इस दुनिया का मजा तक न जानता, खा लिया तो लीजिए, मुँह में पानी भरे रहिए। भुर्त्ता और लिट्टी हमेशा के लिए मिट्टी हो गई।" आज की यह रससिक्क रसना कल जैसे मसूढ़े का कौंटा होकर चुमेगी।

विनोदिनी तो कुछ यों ही कुतर रही है—एक रस्म की तामीली ठहरी। फाउल की बिरियानी उसकी रसना पर बया रस लाती, जब आँखें लगी हैं बराबर अनिल पर; और आँखों के अंदर लहरा रहा है आवेश का एक दरिया ! वह चुप है; न बोल पाती है, न खा पाती है। बस, आँखें फैला-समेटे जा रही है अनिल को जैसे।

कौन कहे, क्या-क्या देखने—क्या-क्या पाने की तमन्ना जैसे तड़प रही है उसकी चितवन में ! भाषा तो वैसे अवसर पर बस लड़खड़ाकर रह जाती है। आखिर वह भाव भी क्या, जो ज़बान के ताव में आ जाय—भाषा की सीमा में समा जाय ! और वह आवेश भी क्या, जो चितवन में लुट जाय ! क्या ज़बान, क्या चितवन, उस भावावेश का एक अधूरा-सा इंगित दे पाती हैं बस। और यह अटपटा इशारा ही तो उनकी सारी रौनक है !

हठात् अनिल को लगा कि विनोदिनी कुछ खा-पी नहीं रही है, उसी को

आँखों से पिए जा रही है जैसे । ओ हो ! तो क्या वह घूर रही है कि अमीरों के दस्तरखान पर क्या दूट कर पड़ा है यह भुक्खड़ । शराब तो पी ही रहा है—अपनी लाज-शर्म भी पिए जा रहा है यों !....अच्छा, ठहरो । तुम भी क्या याद करोगी कि कोई आशना था तुम्हारा !

वह लगा विनोदिनी की आँखों में आँख रखने —“सब मानो विनोदिनी, आज तो जो तुम्हें देखे, वह देखता ही रह जाय !”

“अच्छा ! शुरू हुई फिर खुशामद-जबानी !”

“यह तो आँखें कह रही हैं, ज़बान नहीं ।”

“अजी, यह कहो कि तुम्हारा दिल क्या कह रहा है ? हम तो दिल ढूँढ़ती हैं, ज़बान नहीं ।”

“मगर दिल का पता तो आँखें ही दे पाती हैं, ज़बान क्या देसी भला ? कोई लाख छिपाए, पर आँखें उठा ही देती हैं दिल का पर्दा !”

“नहीं भाई ! आज तो निगाहों की तालीम और है । मन में है कुछ, और आँखें कहेंगी कुछ !”

“तो यह नई रोशनी की बातें होंगी ! भला हम यह नई चाल क्या जाने !”

अनिल लगा विनोदिनी की आँखों में आँखें डाल थाह लेने कि आखिर क्या ढूँढ़ रही है विनोदिनी ! वह कब की दिल ढूँढ़नेवाली ठहरी ? यह दुनिया तो उसकी नहीं । उसने कब किया है ईमानदारी के साथ दिल का सौदा ? जो हो, एक अजब पहेली है यह औरत । मन में कुछ और, ज़बान पर कुछ और—और शायद आँखों में भी कुछ और ! हो-न-हो, मन में है मौज, आँखों में नशा और ज़बान पर प्यार !

इधर विनोदिनी सर खपा रही है कि यह क्या अनिल दिल से कह रहा है ? कहीं दिल की कोई वैसी चाह भी चुप रह सकी है ? न बोले वह मुँह से; आँखों से तो कही देगी किसी हीले ।

नहीं-नहीं, यह उसके हृदय की वाणी नहीं हो सकती । जब होगी, तब आँखों की होगी । उसकी अपनी आँख भी नहीं, कॉकटेल की गुलाबी में बसी आँख है यह । यह उसी का करिश्मा है कि उसे जो जलवा दिखा दे । अनिल खुद तो कुछ देख न देख नहीं रहा है शायद । अपनी आँखों देखता तो कब न देख लेता—क्या तब, क्या अब !

मगर शराब उसकी आँखों पर ही धिरककर रह गई तो शराब क्या ? तारीफ़ तो तब है कि उसके लहू में उबाल लावे, एक-एक अंग में गर्मी ला दे, दिल तक जगमगा दे ! आज का दिनर भी बेकार गया क्या ? तो क्या बस, आँखें ही खिलकर रह गईं ? वाह री शराब, और वाह री तेरी मस्ती ! हमने भी देख लिया कि आखिर तू कितने पानी में है !

...तो उसकी अदाओं के वार की यह अनोखी काट कौन कर रहा है अनिल के अंदर ? विचार है यह ?—उसका नैतिक संस्कार है ?...हो-न-हो, यह विमला का प्यार होगा । मगर पुरुष और प्यार ? मन, वचन और शरीर से अपनी पत्नी में निष्ठा ? यह कभी सुना है किसी ने इस युग में संभव ?

कौन कहे, यह केवल एक हिचक—एक संकोच-भर ही हो—और बस । है भी तो इस कूचे में रँगलूत वह !

अच्छा, देखो भी तो—क्या है, क्या नहीं है ! कल से तो जरूर कुछ तरकी है आज । वह चाहे उसके दिल में न समाई हो, आँखों में तो छा रही है जैसे नूर बनकर ! आज वह देखने लगा है आँखें डाल । बोलने भी लगा

है दिल खोल । बस, इतना ही टटोलकर देख लेना है कि यह फुर्ती कहाँ तक उसकी अपनी है । यह शराब देख रही है यों आँखें ढाल या वह देख रहा है ? यह सरासर शराब बोल रही है यों दिल खोल या वह बोल रहा है ?

कोई भी हो, उसने उमड़कर देखा तो ! न सही अपनी वासना, बोतल की माया ही सही । हाँ, कुछ और आगे न उभरा तो विनोदिनी के तरकस में अभी वह ब्रह्मास्त्र है कि वह छूटकर जाता कहाँ है !

खैर, तो अब उठना भी चाहिए । अभी-अभी नया पीने चला है । दो-एक पेग से ज्यादा पी लेगा तो फिर किसी काम का न रह जायगा वह ।

“अच्छा, तो अब उठो । ग्यारह बजने को आए । ‘बस’ या ‘ड्राम’ तो मिलने से रहे; टैक्सी भी न मिली तो ?”—विनोदिनी ने कहा ।

“अजी वाह ! चलते-चलाते एक आखिरी जाम भी नहीं ?”

अनिल अब हिस्की की लपेट में था । वह कलवाला कॉफ़्टेल थोड़े ही था जो एक पल में उड़ गया !

विनोदिनी हँसी । हिस्की ने रंग जमा दिया अपना । ले भाई, अब जरा उसे हौले-हौले उभार । एकबारगी ऐसा न करदे कि इस होटल में वह अपनी भद्द करके धर दे ।

मगर ‘जानीवाकर’ से तो ऐसी उम्मीद नहीं । वह कुछ कच्चे घड़े की थोड़ी ही आती है ! हाँ, अब कोई उसे लगातार ढालता ही चला जाय, तो ज़िम्मेवार वह खुद है ।

“देर जो हो रही है ।”

“क्या ऐसी देर है भला ? आखिर अब क्या फिर आना है अमीरी की इस दुनिया में—अरमानों के इस अंजुमन में ? देख भी तो लें जी-भर कि क्या चीज

है यह ! कल से तो फिर वही गंदी गली, वही अँधेरी कोठरी, वही ऊमस, वही सङ्गन, वही मॉड़-भात या बहुत हाथ-पैर मारा तो कोई कढ़ी और साग ।”

“मगर भाई मेरे, विनोदिनी तो अभी मरी नहीं है । न सही हर हफ़्ते, महीने में तो एकाध दिन लायगी ही तुम्हें इस अंजुमन में !.....क्या बताऊँ, तुम तो बस. ऐसे हो गए हो कि—

“मर गए बस जहाँ हसीं देखा,
किस गली में मेरा मज़ार नहीं !”

“न भाई; अब नहीं, ऊँहूँ ! हम तो खुद अपनी आँखों से गिर रहे हैं आज । यह गरीबी बुरी नहीं है, बुरी है अमीरी की चाट । हमारी जैसी पतली हालत में किसी का उखड़कर जिन्दगी से हाथ धो बैठना मुश्किल नहीं, मगर शरीर की सूरत लिये हँस-हँसकर जिए जाना कैसी बेकसी है, क्या बताऊँ ! बस,—‘हमीं जानते हैं जो हम जानते हैं’ । तिस पर तुम चाहती हो कि वह तुम्हारी मौज के ताल पर थिरका भी करे जब-तब ।”

“अच्छा, यह तो कहो—तुम्हें कहीं अच्छी जगह मिल गई तो ?”

“यहाँ सिफ़ारिश कहाँ है ?”

“देखो, कोई सूरत निकलेगी न !”

विनोदिनी ने देखा कि शराब के नशे में कहीं करुणा का आवेश उठ आया तो फिर हँसने-खेलने का चारा मजा ही किरकिरा कर देगा । इस लीला-निकुंज की रस-विलासता से बिछुड़ने की घड़ी आई है और फिर ऐसे किसी संयोग की आशा नहीं । भरसक अनिल को तीनों लोक नज़र आ रहा है इस दम ! अब अगर वह फिर इस सैर की उम्मीद दिलाकर उसके गिरते हुए दिल को सँभालती नहीं, तो अनिल को गले से लिपटाकर भी कुछ न पाएगी वह—बिलकुल नहीं ।

“यह क्यों उम्मीदें उकसाए जा रही हो विनोदिनी ! तुम्हारी ऐसी अदा-ठहरी—इधर जान पर आ रही है जैसे ! तुम्हें किसी बिस्मिल की तरफ देखनी बाकी है क्या ? हमारे अंदर क्या शांति थी, जब कहीं से कोई उम्मीद न थी ! आज यह उठती हवस उस ना उम्मीदी का परदा उलट गई तो फिर हम कहीं के होंगे, वोलो तो ?”

“तो क्या चाहते हो कि कोई देखकर भी न देखे—सुनकर भी न सुने ? तो लाओ फोड़ दो उसकी आँखें । सच मानो, बातें नहीं बनाती विनोदिनी । हैं एक-आध ऐसे.....तुम तो ऐसा दिल हार जाते हो कि कोई क्या कहे तुमसे ! उठो भी, बड़ी देर हो रही है अब ।”

“मगर वह आखिरी जाम तो रही गया भाई !”

“तो चलो न, एक-आध पेग हमारे यहाँ पी लेना । है न ?”

“बस-बस, यही ठीक है !”

आज टैक्सी देखकर अनिल भड़का नहीं । मजे में फैलकर बैठ गया—जैसे उसके रोज़मरों की सवारी की मोटर हो ! विनोदिनी उसके सीने से सटी न बैठती तो अंदर बैठने की जगह भी न पाती —उसे बाहरवाली सीट पर ड्राइवर के साथ बैठना पड़ता । अनिल ने न तो छाती सरकाई, न बौंह और न पैर ही ! और विनोदिनी जैसे उसकी गोद में बैठ गई । बैठ क्या गई—लेट ही गई; एक दूसरे से लिपटकर गोया ।

भिर-भिर हवा जो लगी तो ह्रिस्की रगों में थिरक उठी । कौन कहे, वह इस सुखावेश की लहर में विभोर था या अपनी जिन्दगी के उलट-फेर में उभचुभ । वह आँखें खोले चुप बैठा रहा आर विनोदिनी उस अप्रत्याशित पुलक-स्पर्श में घुलकर उसने सीने पर अँगड़ाइयाँ लेती रही ।

मोटर जब घर के सामने से गुजरी तो उगने देखा कि दरवाजे पर विमला जैसे किसी की बाट जोह रही है। टहटही चाँदनी न होती और मोटर की चाल धीमी न पड़ती तो उस घुप्प ब्लैक-आउट में वह पहचानी भी न जाती।

अनिल चौंक पड़ा—हैं ! उसने कहीं कुछ देखा तो नहीं ? ... नहीं-नहीं, यह वैसी खुली गाड़ी नहीं, बंद तो है।

विमला पर आँख गई नहीं कि अनिल का नशा हिरन हो गया और मन-ही-मन वह कह उठा—हाय-हाय, बेचारी जाने कब से आँखें बिछाए खड़ी है ! अंदर-ही-अंदर तबप रही होगी कि रात आधी से ज्यादा जा चुकी—क्यों, कहाँ उलझ पड़ा वह ? यह अनहोनी बात—ऐसी ? शादी को जाने कितने साल होने को आए, मगर कभी जो वह इतनी रात गए बाहर रहा हो। बेचारी जानती है कि रहने की कोई वजह भी तो नहीं। एक तो पैसे-पैसे का मुहताज, फिर नह कभी का दिलफेंक नहीं, कभी का मजलिसपसंद नहीं। भरसक आज की इस देर से जाने कैसी-कैसी फुफकारती चिन्ताएँ फन काड़े उसके दिल पर खोटी होंगी—कहीं कुछ हो तो नहीं गया ?

उसे क्या पता है कि उसका पति पैलिटी में डिनर उड़ाए अमारत के नशे में उड़ रहा है जैसे—रस की फाल्गुनी में शराबोर, चमन की हवा खाने निकला है आधी रात। वह बेचारी तो रात की रसोई ढककर बाट जोहनी

खड़ी है कि वह आए—खाए तो उसी थाल का प्रसाद वह भी पाएगी । कभी जो वह अनिल को बे-खिलाए खाती हो—कभी जो वह अपने लिए मछली का एक कौंटा भी चुराकर रखती हो । वह तो बस, अनिल के थाल की जूठी बोटियाँ और भाजियाँ चाटकर ही रह जाती है बेचारी—बगीचे का शौक एक गमले पर निकाल ले कोई जैसे !

और, अनिल को याद हो आई कि एक दफ़ा ऑक्सिड से आते वह भटक कर रमेश के साथ सिनेमा चला गया था । लौटते रात के दस बज गए । घर आकर देखा कि विमला बुझती सुई ऑच पर भात और साग गरम रखे मूरत की तरह बे-जान बैठी है । माँ और जीजी खा-पीकर बेखबर सो रही हैं, मगर उसकी आँखों में नींद कहीं !

साथ ही अनिल की आँखों में फिरने लगी विमला की रोज़मर्रों की खटन-जैसे वह अपनी उँगली पर गोवर्द्धन उठाए फिर रही है बेचारी ! माँ तो माँ, जीजी भी बत्ती की टेम तक नहीं भाड़तीं । हाथ-पर-हाथ और पैर-पर-पैर रखे ताबड़तोड़ हुकुम दागती रहती हैं बहू के सर पर—जैसे वह कोई बेगार की दाई है ! और इस मुन्नी को देखो—सयानी हो चली, मगर कूटने-पीसने में नबाब की बेटा हाथ तक नहीं बटाती । भाङ्गू-बुहारू करे विमला, पाइप से पानी लाए विमला, जूठे बर्तन माँजे विमला, चूल्हा फूँके विमला, हाँड़ी चढ़ाए विमला, मसाला पीसे विमला—क्या-क्या न करे विमला ! भला एक मुर्गी कहीं-कहाँ हलाल हो ! और, कहीं चाय में ज़रा देर हो गई तो पति-देवता की भवें बल खा गईं और एकादशी के दिन फलाहार या संदेश जून पर न आया तो सास और ननद के हाथों बैठे-बिठाए बेचारी की मरम्मत हो गई—हाँ, मरम्मत, और खासी !

अच्छा, तो अब वह उसे यों पिसकर मरने न देगा—हर्गिज नहीं। चाहे जैसे भी हो, दोनों जून चौका-वर्तन के लिए तो एक दाई रख ही लेगा। आखिर महीने में पाँच-छः रुपए से कम नहीं दाल में खर्च हो जाते होंगे। तो कल से दाल नदारद—बस, साग-भात; और कुछ नहीं। अगर जीजी और मुन्नी को बग़ैर दाल के भात न रुचेगा तो माँ-बेटी चौका-वर्तन का भार ले-लें अपने सर। अब तो जो हो, विमला अकेली नहीं मरेगी।***हाय-हाय, उठती जवानी की जाने कितनी गुदगुदियाँ घुट कर मर गईं उसके अंदर !

और, अनिल इस निश्चय पर जो तनकर उठ बैठा, तो उसकी बाँह विनोदिनी के पाश से अनायास छूट गई और विनोदिनी जैसे सपने से जाग पड़ी। कहाँ उसी बाँह के सहारे सरकती हुई गले के पड़ोस तक आ चुकी थी बस होठ पर होठ रख उस उमंग पर मुहर लगा देनी थी। और यहाँ एक पल में बुनियाद ही सरक गई !”

विनोदिनी जैसे एँठ गई ! मगर अब वह करे तो क्या, उसी पल मोटर खड़ी हो गई उसके मकान के सामने ! एक साँस खींचकर उतर पड़ी और आँखें नचाकर बोली—“अच्छा, तो चलो, तुम्हारा वह आखिरी जाम बाक़ी है न !”

और अनिल के हाथ में हाथ डाल जीने की ओर बढ़ी।

मगर, अनिल एक झटके से ठमक पड़ा—“ना भाई, बड़ी देर हो गई। बाट जोहती होगी विमला। कहीं जान लेगी तो नाक-भौ चढ़ा लेगी !”

बस, विनोदिनी सर-से-पाँव तक जल उठी —अजी वाह ! उसके पैसे का नशा और नशे का नफ़ा खाए विमला ? और, अभी-अभी टैक्सी में विनोदिनी के लहू से यों लौ लगाकर ! नमकहराम कहीं के ! बड़े आए हो जाने क्या बनकर ! क्या समझ रखा है तुमने विनोदिनी को ?

चोट खाई हुई सिंहनी हाथ से शिकार छूटते देख यों जान पर आ गई। चट तरकस से ब्रह्मास्त्र खींच लिया। नाक पर उँगली रखकर बोली—
“मगर तुमने कब नाक-भौं चढ़ाए, जब वह आई यहाँ रात बिताने !”

“दीवानी हो ! भला वह क्यों आयगी यहाँ— वह भी रात बिताने ?”—
अनिल ने रूखी हँसी हँसकर कहा।

“वाह ! जैसे कि तुम जानते ही नहीं !”

“क्या, कह रही ही तुम— विमला क्या ?”

“क्या, क्या ? जैसे सुरखाब का पर लगा है उसमें ! हमें नहीं देखा, उसे देखा— और क्या ! ” ***अजी, बात बनानेवाली की ऐसी-तैसी !”

अनिल के पाँव-तले की ज़मीन हिलने लगी ! आसमान के सितारे लगे जैसे टूट-टूटकर चक्कर खाने !

ओफ़् ! अभी-अभी सायरन बजती, हवाई बमगोले बरसते, धुआँधार आग भड़क उठती सारे शहर में ! और, अपना जाना-सुना हर कोई उसी फुफकारती आग में जल-भुनकर कबाब हो जाता !

और, विनोदिनी आँखों में आग लिए देख रही है अनिल के चेहरे के उतार-चढ़ाव को। डर भी रही है कि यों आस्तीन उलटकर दिखाने को तो दिखा दिया उसने कि अनिल कितने पानी में है, मगर कहीं इस घके से वह एकबारगी टूट गया तो ?

“सच कहो विनोदिनी, तुम्हारे पैरों पड़ता हूँ, आखिर बात क्या है ?”

“तो चलो ऊपर। जैसे जिद्दी हो तुम कि हमारी जान लेकर ही तो दम लोगे। मगर शर्त यह कि कहीं नाम न लेना। जैसे हमने उसकी लाज पी रखी है, तुम्हें भी ज्वल रखना होगा—बोलो !”

“मगर हमें इतमीनान तो चाहिए न ?”

“इतमीनान तो हमारा वह नौकर पलटू ही दे देगा । हम क्या जानती हैं, जानता है सारा किस्सा वह । मगर कोई सीखे उससे मुँह सीधर रखने की लत । यह न होती तो मुहल्ले का मुहल्ला सुन चुका होता अबतक ।”

अब्रे ओ पलटू ! लें भाई, यह कुंजी । आलमारी से वह धोतल तो निकाल ला । ओर देख, हमारे पलंग-कमरे में ऊपर लाना, भला !”



उधर विमला आकाश के तारे गिन रही है। एक तो भूख की आग खाए जा रही है उसे, उस पर चिन्ता चाटे जा रही है तिल-तिल।

घर में बस, दो रुपये बच रहे हैं और महीने में पाँच दिन बाकी हैं ! वह अपनी आँच बुझा लेती है तो फिर अनिल का कैसे क्या होगा। वह हरा-भरा है तो दुनिया हरी-भरी है। माँ और जीजी तो पहले ही से ऐसे मौके लिए कुछ चूर-चार चुराकर रख लेती हैं अलग-अलग —जाने किस बिल में, जहाँ उसकी पहुँच नहीं। और, न चुरा पाई तो विनोदिनी की शरण लेने में भी उन्हें आपत्ति नहीं, न मुन्नी को भेजकर उस मारवाड़ी या ड्राइवर से, जैसे हो, दो-चार पैसे ही ऍठ लेने में।

महीने का आखिरी हफ़ता जान का जंजात है। बस, वही भेलती है जो कुछ वह भेल रही है आज। और, इसी भेल-भाल में भोल हुई जा रही है वह। किसी और को जनाने से उसकी जान में जान आ पाती, सो भी नहीं ! उलटकर उसी के सर भूत उतारने की बंदिश होगी। वह तो भगवान् भला करे पड़ोस के उस रामू हलवाई का, जो जब-तब कोई नमकीन या मीठा उधार देकर उसका चोला खड़ा रखता है इधर; नहीं तो आज इस चौतरफ़ी तूफ़ान में वह कभी उखड़ गई होती। घर में जगान खोलती है तो फिर वही फ़न्ती होगी कि चलो, इस डूबती नाव की पतवार एक बार फिर हाथ में लो ! न सही रात, दिन में तो मैदान खाली है—अब अनिल ऑफिस

में फँसा है ! अब वह अपना दुखड़ा रोए तो कहाँ रोए ! वह एकाध रात विनोदिनी के घर क्या गई कि माँ और जीजी के हाथ की कठपुतली हो गई जैसे । क्या जाने, कब कैसा रुख बदल दें वे ! हाँ, आज भी वह कोई वैसी लगी-लिपटी रखे तो उसकी पीठ थपथपाती रहें, नहीं तो शायद उसकी चमड़ी उधेड़ने में भी किसी की उँगली न पिराएगी* मगर नहीं, उनका भी क्या दोष ? यह तो भूख की आँच है, जो उनकी मिठास को चाट गई ।

न खाने की एक और भी वजह है आज । अनिल से वह अपना सारा दुखड़ा कह लेगी तो मुँह में अन्न डालेगी—यही ठानकर बैठी है जैसे । दिन में कह न पाई, चूँकि अनिल का रुग्ण कुल्ल और था । उसे घर की सफाई-धुलाई की जाने क्या पड़ी थी आज । शाम को एक पल के लिए वह आया भी कपड़े बदलने तो हवा के घोड़े पर सवार आया—यह आया और वह गया । और जब उसने यहाँ खाया ही नहीं, तो फिर इस तंगी में वह चूल्हा फूँके किसके लिए—अपने लिए ?

वही आँखें बिछाए बैठी है विमला ! आखिर कहाँ गया है खाने वह ? दावत है कहीं क्या ? आज यह एक अनहोनी-सी बात ! कभी जो ऑफिस के किसी दोस्त-अहवाब ने उसकी बीमारी में भूलकर भी भाँका होता ! आज यह कौन ऐसा अपना है, जो कलकत्ते की ऐसी महँगी में अपने पसीने की कमाई से दो मुट्ठी चावल भी किसी और को खिलाने उठा ? ऐसे होगा कोई धनी-मानी—स्कूल का संगी-साथी ।

अच्छा ! कहीं वह विनोदिनी तो नहीं है ! क्या जाने वही हो ! मगर वह दावत देती तो पता न चलता ? और फिर वह घंटो पहले क्यों जाता ? उसका मकान बहुत होगा तो दस मिनट का रास्ता होगा यहाँ से ।

“अनिल अभी नहीं आया क्या बहू ? रात आधी जा चुकी यहाँ ।”

“अब आते ही होंगे ।”-----और, विमला उठकर दरवाजे के पास आ गई ।

माँ सो गईं, जीजी भी लेट गईं ; मगर विमला की आँखों में नींद कहाँ ? दरवाजे पर आकर खड़ी है । गली में कुत्ता भी नहीं भूँकता आज । कहाँ कोई सुनगुन—कोई स्पंदन नहीं । सुनसान रात—भन्-भन् । और, कैसी डरावनी है यह अंधियारी ! आज यह क्या हो गया है यहाँ यों ? एक अनिश्चित आशंका—एक विशी अस्वस्ति का स्पष्ट इंगित धीरे-धीरे सघन हो रहा है जैसे ।

हठात् किसी मोटर की भर्हाट की आवाज आई । और, मोटर आई—निकल भी गई ।

कोई भूमता जा रहा है गाता हुआ—

“श्याम न आए आली, रतिया सिरानी....

हाँ....रतिया सिरानी....रतिया....आ”

और विमला की आँखों से दो बूँद आँसू चू पड़े—टप-टप ।

तभी किसी ने गानेवाले की पीठ पर एक धौल जमाकर कहा—“अबे, क्या गला फाड़ रहा है बेकार ? श्याम तो गए मथुरा !”

विमला का कलेजा धक्-से कर गया । आगे सोच न सकी, देख न सकी । बस, सुन्न हो गई ।

कहीं से कोई शब्द नहीं । बस, रह-रहकर कहीं दूर से आती हुई एक बाँसुरी की सुरीली तान उस चाँदनी में जैसे मधु बिखेर रही है—किसी की आकुल चेतना पर हौले-हौले थपकियाँ दे रही है । विमला ने, खोई-सी,

आँखें बंद कर ली ।

हठात् घुटने पर एक ठोकर-सी आई । वह बंद चौंका उठ बैठी—
अरे ! यह तो अनिल है ! एक अजब बांखलाई सूरत—बाल बिखरें—कपड़े
लथ-पथ—आँखें तनी हुई ।

“बाप रे !—कहाँ थे तुम ?”

“जहाँ तुम गई थीं मरने !”--और अनिल लड़खड़ाता हुआ हाँफता
अपनी कोठरी में घुसा—चौकी पर धमू-से जा गिरा । चूर था ही, होश
उड़ गए ।



विमला की बाकी रात सोते बीती या जागते—विमला जाने । वह भी क्या जानती होगी बेचारी, थी भी कोई वैसी सत्ता उसमें ?

हाँ, इतना वह जानती है कि अनिल क्या कह गया ! फिर भी वह अपने से पूछ रही है कि अनिल का इशारा क्या है—कहाँ मरने गई थी वह ! कहीं भी गई हो, अनिल को पता क्या ? कहीं विनोदिनी ने तो कान नहीं भरे ? आगिर क्या कहा उसने—कैसे कहा—क्यों कहा ?

और वह क्यों और कैसे के भँवर में अपनी खुदी भी खो गई । न समझ पाती, न सोच पाती । अब अनिल को वह क्या कहे—कैसे कहे ? वह अपनी नाव पर पाल उठाए भी तो क्या उठाए, यहाँ तो हवा ही गुम है !

बस, यह हाल है कि साँस भी आह बनकर आती है । ँङ्गी से चोटी तक तूफ़ान दुँद पर है, मगर आँखों में एक धूँद नहीं । उसकी दुगदुगी में दम है और उमड़ रहा है हाहाकार का समुन्दर ।

अनिल को पता नहीं कि नशे के भ्रोक में रात विमला को क्या कह बैठा । दिन चढ़े आँखें खुलीं तो उसने देखा कि वह कहाँ है और रात कहाँ था ! सिनेमा की रील की तरह आँखों में फिरने लगी एक-एक तस्वीर । और मर्मस्थल के रेशे-रेशे में बिजली की शलाका-सी छूती हुई रह-रहकर कौंध जाती वह विमला की शर्म की कहानी ।

एक अजब हैस-बैस में है वह । विमला से पूछे तो क्या पूछे—कैसे

पूछे ? नाहक वह विनोदिनी को जवान काटकर देने गया । बग़ैर छेड़े, बग़ैर टटोले तो दम में दम नहीं । उफ़् ! इस चिन्ता के मारे तो वह खड़े-खड़े सूख जायगा कल तक !

कहीं विनोदिनी की यह तमाम छलना तो नहीं ! उधर उसे बदनाम किया, इधर जवान भी ले ली कि कहीं नाम न लेना । है भी वह जैसी खेली-खाई; एक गहरी नदी की मछली, किसी बावली की नहीं । यों तो अनिल भरपूर हाथ आता नहीं । बस, लो, जिस बुनियाद पर पैर रोपे खड़ा है, उसी को उसकी निगाह में मटियामेट कर धर दो । जा री मुँहजली ! एक ऐसी बेगुनाह पर यों कीचड़ उछालते तेरी जवान भी नहीं गिर गई !

अनिल ने इतमीनान की साँस ली—भला विमला भी ऐसी हो सकती है ? लाख में एक वह पैसे के लिए अपना पानी खोएगी ? जानती नहीं कि जान रहे या न रहे, मान है तो जहान है ?

वह उठा । हाथ-मुँह धोया । उफ़् ; बड़ी भूल हो गई रात । वह न दिनर पर जाता, न पीता और न यों विनोदिनी के जाल में पड़ता । भला क्या वह मुँह दिखाएगा विमला को अब ! क्या मुँह दिखाएगा अपने-आपको अब ! या भगवन् ! उसने कब ढूँढ़ा था दिनर, कब मोंगा था कॉकटेल और कब चाहा था उस मायाविनी का साथ ? वह क्या जानता नहीं कि वह क्या है—एक फटेहाल किरानी ! यह ऐश का तमाम सामान न यों आसमान से बग़सकर उसके सामने हाथ पसारे आता, न हवस करवट लेती ।

तो क्या उसके अन्दर की हवस मरी न थी— सोई थी कि ज़रा-सी हवा में नमी आई और यों पनप उठी फड़फड़ाकर ?

लो, यह कान पकड़े, जो फिर कभी चखा वह विषयों के विष का

प्याला । वह लाख सामने आए लाख मुफ्त आए ।

मगर वह विमला कहीं मर रही है अब तक ? आज आई क्यों नहीं सवेरे-सवेरे ?

अनिल धड़-फड़ बाहर आकर देखता है कि विमला आँगन के एक कोने में गाल पर हाथ रखे सुन्न-सी बैठी है । उसकी आँखें खुली हैं, मगर वह क्या देख रही है, क्या नहीं देख रही—पता नहीं । उस दृष्टि के अंदर जैसे कोई चेतना ही नहीं । यह क्या हो गया है उसे बैठे-बिठाए ? कोई रोग पाल रही है वह अन्दर-ही-अन्दर क्या ?

तभी रोशनी की एक जलती लकीर-सी खिंच आई उसके मानस-पट पर—हो-न-हो, यह कोई शर्म, कोई ग्लानि, कोई चिन्ता है, जो उसे खाए जा रही है तिल-तिल । न आँखें सीधी कर पाती है, न आदमी की तरह दँस-बोल पाती है । सवार है उसके सर पर जैसे कोई पाप !

तो क्या.....तो क्या विनोदिनी की बात सच है ? उसके अन्दर अपने किए की कालिमा न होती तो चेहरे पर रोशनी न होती ?

और वह हब गया एक उधेड़-वुन में कि आखिर कब से वह ऐसी मरियल-सी हो रही है । अरे, यह तो लगभग वही वक्त है....वही....वही.... उसकी बीमारी !

और, वह विमला के इस परिवर्तन के रहस्य को ज्यों-ज्यों टटोलता गया, त्यों-त्यों एक आग-सी उठती गई उसके सीने के अन्दर ।

चेहरे का रंग उड़ गया । आँखें खिंच गईं । सोचा कि चलो, जीजी से तो पूछूँ । मगर फिर वही हिचक की वह किसी से कैसे पूछे—क्या पूछे ? मुँह पर तो ताला पड़ गया है जैसे ।

दुत ! जो हो—चित्त या पट्ट, अब तो बस, जान ही लेना है जैसे-तैसे !

और उसने पुकारा ही तो—“मुन्नी ! बिटिया, सुन तो जा !” और मुन्नी उड़ती आकर सामने खड़ी हो गई—“क्या है मामा ?”

“तुम्हारी माँ कहाँ हैं ?”

“जाने कहाँ तो गई हैं बाहर ।”

“और नानी ?”

“वह क्या बेंटी माला फेर रही हैं ।”

अनिल माँ के पास आया—“आज चूल्हा न जलेगा क्या माँ ?”

“पूछो अपनी बहू ने ! जैसी हो गई है वह...”

अनिल को जैसे बिजली धूँ गई । बस, तड़प उठा—“कैसी हो गई है, क्या हो गई है ? सुनूँ भी !”

माँ ने एक बार आँखें उठा अनिल को देखा और सहम गई ।

“क्या जाने क्या हो गई है !”—और, मुँह फेर लगी माला ढूँढ़ने ।

“नही-नहीं, कोई बात जरूर है । बताती क्यों नहीं ? हमी से... ..”

कि, क्वाड पर खट् की आवाज आई । अनिल ने मुड़कर देखा, तो पलटू !

अनिल का तैश धिरन हो गया । बोला—“क्या है पलटू ?”

“लीजिए बाबू, यह रही आपकी चादर । आज भाड़ू देते फर्श पर मिली ।”

मुन्नी ने चादर थाम ली । पलटू लौट गया ।

अनिल एक पल जाने क्या सोचता खड़ा रहा । फिर जैसे सोते से

चौककर बोला—“जी तो चाहता है कि सारी गृहस्थी में आग लगाकर धर दूँ !”

“तुम क्या लगाओगे बाबू, भगवान् ही ने लगा रखी है कब से !”

“पेट की जलन सह लेना आसान है माँ ! मगर छाती की जलन ”

“ना भैया, भला पेट की जलन ? हमने खूब देख लिया इगी अकाल में ।”

“तुम नहीं समझतीं माँ.....खैर, जाने दो । अच्छा, जीजी कहाँ गईं ?”

“कंट्रोल से चावल लाने गई होगी ।..... यह एक प्रसाद का पेड़ा तो बच रहा है हमारे पास । खराई तो मिटा लो ।”

“ना माँ ! हम नहीं खाते पेड़ा ।” --और वह मुँह लटकाए लौट आया अपनी कोठरी में कपड़े बदलने कि देखा—विमला ज्यों-की-त्यों उसी कोने में सुन्न-सी बैठा है । माँ-बेटे की बात उसके कानों की राह उतरी या नहीं— पता नहीं !

बूढ़ी माँ लग्गी बहू के कंधे झकझोरने ।

“यह क्या अक्ल है तुम्हारी भला ? चूल्हा न जला तो रामू की दूकान ही से कुछ मँगा लेती कच्चा-पका । और, ले, यह एक अठन्नी बच रही है । मेरे पास ।”

विमला आह की तरह उठी । बेचारी दरवाजे तक गई होगी कि अनिल टूट पड़ा उस पर जैसे—“रहने दे ! हम नहीं खाते यहाँ !”

“तो कहाँ जाओगे खाने—विनोदिनी के घर ?”

“जैसे कि तुम उस घर को जानती ही नहीं !” और वह तीर की तरह निकल गया मकान के बाहर ।

विमला आँसू की तरह चू पड़ी उसी जगह—‘हाय रे करम ! क्या कहने को थी, क्या कह बैठी !’

दिन ढल चला । अनिल का पता नहीं । कहाँ खाया, कहाँ खो गया बेचारा ! माँ का कलेजा लगा काँपने—वह कुछ पता दे नहीं पाती है । हो-न-हो, कोई बात हो गई है जरूर । अनिल तो ऐसा निर्मोही नहीं था कभी का । आज घर से जैसे फिर गया हो वह ।

विमला देखती है कि माँ और बेटा सायवान के एक कोने में घुसुर-फुसुर कर रही हैं अब । वह सामने पड़ती है तो नाक-भौं सिकोड़ होंठ बिचका लेती हैं । तो, न जायगी वह उनके सामने । अब कोई बना क्या लेगा—बिगाड़ क्या लेगा ? बनने और बिगड़ने को जो कुछ था, वह तो बन-बिगड़ चुका ।

वह मुँह फेर मुड़ती है कि जीजी एक अजब खिंची-सी आवाज में पूछ बैठी—“हाँ री वह, तो तू ने अनिल से कही डाला आगिर ?” “जैसी है बेहया तू !”

“हमने कब क्या कहा किसी से जीजी ?”

“तो वहीं वह निगोड़ी तो कुछ जड़ नहीं बैठी ? इधर भौंकने भी नहीं आती अब !”

x

x

x

रात का बासी भात, पानी और नमक डाल, मुन्नी के नाश्ते के वक्र काम दे गया । लल्ला ने भी एकाध कौर वही चख लिया । दिन को चूल्हा

जला कोई तीन बजे । चावल आया तो कोयला काफ़ी नहीं । सुन्नी मुहल्ले की 'डस्बीन' से कुछ चूर-चार चुन लाई तो आग जली ।

अनिल ने आज भी देर की तो भात और कुम्हड़े का साग रख देना होगा ढँककर । कौन जानें, भूखा-प्यासा कब लौट पड़े रात में । उसने खाया तो खाया, नहीं तो कल बच्चों के लिए काम दे जायगा ।

रात हो आई । विमला छुट-पट करती है—कहाँ रह गया वह—क्यों रह गया वह ? आज भी न आएगा क्या ? और, न आया तो फिर क्या करेगी वह—कहाँ जाएगी, कहाँ ढूँढ़ेगी उसे ? विमला रसोई-पानी में लगी है तो क्या, उसकी आँखें हैं चौखट पर—कान हैं आहट पर ।

आसमान काले बादलों से घिर आया है । अब हवा भी लगी है आँगन में हरहराने । किवाड़ के पल्ले धड़धड़ा रहे हैं बराबर । बिजलियाँ कौंध रही हैं थम-थमकर आसमान फटा चाहता है जैसे ।

विमला की सास और ननद अपनी कोठरी के किवाड़ बंद कर सहमी-सी लेट गईं । मगर विमला को नौद कहाँ ? उसकी निगाह में तो यह तूफ़ान यों ही—बस, एक हलचल है । अपना आँचल भाड़ दे तो ऐसे जाने कितने उड़ जायँ ! जिसके पोंव-तले की धरती सरक रही है, उसके सर पर आसमान फटा तो क्या, न फटा तो क्या ? उसे तो न बिजलियाँ गिरने का डर है, न भीगने की खबर । आँगन से दरवाजे पर आती है, दरवाजे से आँगन में लौट जाती है ।

बच्चा अनिल की चारपाई के नीचे टाट पर सो रहा है । उसने उठा लिया उसे गोद में और ले गई माँ के पास—“माँ, ज़रा लल्ला को देखना । मैं उनकी टोह लेने बाहर जाती हूँ ।”

“पगली कहीं की ! इस आँधी-पानी में ?”

“तो हुआ क्या ? हमें यों भी तो नींद नहीं आती ।”

“मगर जाएगी कहाँ ?”

भला विमला क्या कहे कि वह कहाँ जायगी ? बस, सास की गोद में जैसे बच्चे को फेंक वह दरवाजे पर आई ! दो पल ठिठकी खड़ी रही । देखा—कहीं कोई नहीं, तो सड़क पर उतर पड़ी । चारों ओर सुनसान । एक तो ब्लैक-आउट; दूसरे आसमान पर बादलों का जमघट । बस, मुँह बाई कुचकुच अधियारी । आज उसे परवाह नहीं—डर नहीं—शर्म नहीं, पानी पड़े या पत्थर—वह आगे बढ़ी, चली विनोदिनी के घर । हो न-हो, अनिल वहीं होगा । उसका रोआँ-रोआँ पुकार रहा है कि वह वहीं है—वहीं है—वहीं है ।

बाईं ओर की गली के नुकड़ पर मुड़ी । और जाने कितनी दूर निकल गई; फिर लौटी । भूल गई विनोदिनी का घर जैसे । लगी एक-एक मकान पर रुक-रुककर निगाह दौड़ाने । पहले भी बदहवासी में ही आई थी, आज भी आई है एक परेशानी में ही —पता हो कैसे भला ?

तभी दाईं ओर पटरी के एक मकान की झिल-झिली से रोशनी की एक लकीर-सी चमकी; और वह तीर की तरह उसी संकेत पर टूट पड़ी । दरवाजे पर खड़ी हो गई—लगी आहट लेने ।

जाने कितनी देर कान दिए खड़ी रही । पानी लगा फिर टिपटिपाने । भीग गया सर, भीग गया आँचल का पल्ला ।

और, ऊँची टीप में कोई दूर से गाता आ रहा है—

“उमड़ि-धुमड़ि बादल आँखियन छाए,
ढरि गैलो नीर, ढरकि गैलो कजरा ।

—पिया घर नाही ।”

एक जरा-सी आदट मिली, किसी के हँसने को । अरे ! है तो अनिल को आवाज यह ! हाँ—वह भूल नहीं सकी । और, किवाड़ पर उसके हाथ पड़े—ठक्-ठक् । चारों ओर सन्नाटा—कोई सुनगुन नहीं, कोई जवाब नहीं ।

दो बार कसकर धक्के दिए ।

“हैं-हैं ! कौन है भाई, ऐसी रात ?”—दरवाजा खोल दिया पलटू ने ।

“अरे ! तुम कहाँ भला ?”

“बाबू कहा हैं पलटू ?”

“हैं तो, ऊपर कमरे में । ठहरो, खबर किए देता हूँ ।”

मगर विमला क्यों ठहरने लगी ? उसे तो जाने कहाँ को बिजली छू गई है आज ! चट सीढ़ियों पर खट्-खट् चढ़ गई । चटपट ऊपर आई, तो देखा—सामने के कमरे में रोशनी है, किवाड़ यों ही लगे हैं—अंदर से बंद नहीं । उसने भाँककर देखा—अनिल एक सोफे पर—कुशन के सहारे—बिजली लेटा है ; विनोदिनी उसके गले में हाथ डाले जैसे आँगड़ाइयाँ ले रही है । सामने मेज पर एक बोतल है ; दो छोटे-छोटे गिलास शीशे के ।

और, ढह पड़ी वह अन्दर ।

आमने-सामने ! आँखें चार हुईं ।

जैसे बे-मेघ की बिजली गिरी । विनोदिनी धड़कड़ उठकर बगल के कमरे में घुस गई । अनिल चौंका—गुराया । कड़ककर बोला—“तुम यहाँ कैसे ?”

“और मैं भी पूछती हूँ, तुम यहाँ कैसे ?”

हैं ! विमला की आवाज़ में यह एक विचित्र दृढ़ता का आभास है आज !

“हमारी खुशी !”

“तो हमारी भी खुशी !”

“मगर तुम यहाँ बेकार आई हो । तुम्हारा वह चमन तो अब रहा नहीं ?”

“हम तो पेट की जलन में आई थीं ; तुम यहाँ क्यों आए भला ?”

“दिल की जलन तो उससे कम नहीं विमला !”

“वह क्या कभी ठंडी होगी यहाँ ! किस दिमाग में हो तुम ?”

“वही तो देखना है !”

“हमें को देखो ; पेट की जलन बुझाने आई, दिल की जलन समेट ले गईं ।”

“तो फिर आई ही क्यों ? जान ही न जाती—जाती जान !”

“अपनी एक जान की भूख रहती, तब तो हम रामू की दूकान पर पापड़ बेल भी पेट पाल लेतीं ! तुम्हें पता है, माँ और जीजी सीने पर सवार’... !”

“अरी वाह री हमारी भोली ! जैसे कि उन्हीं ने तुम्हारी मुश्कें बाँध किसी के अँकवार में ढेल दिया ! भला तुम क्या चाहती रही कभी यहाँ आना !”

“न मानो—यह बात और है ।”

“कैसे मान लें कि किसी कि ज़िद से कोई यों अपना पानी उतारकर धर देगा—जब हम पाते हैं कि हज़ारों औरतों ने भूख से तड़पकर इसी शहर में जान दे दी, मगर यह तुम्हारी तरह..... !”

“जैसे कि हमारी ही जान एक जान थी !”

“तो क्या हमारी थी ?”

“सोचो न, तुम्हारी क्या गत होती ? न डाक्टर, न दवा न दूध — कुछ नहीं ।”

“बस विमला, बस ! यह तो एक ही रही ! मौत का एक दिन नियत है—जानती हो न ? वह वह दिन आ जाता, तो तुम क्या, भगवान् तक तो बचा ही नहीं पाते !”

“यह सोचकर कोई अपने उपचार से हाथ सिकोड़ नहीं लेता । हमारी आँखों के सामने तुम्हारी जिंदगी डॉवाडोल न होती तो अकेली पेट की आग.....।”

“ओहो ! तो जिम्मेवार हम हैं—यही कहना कहना चाहती हो न ? खैर, मान लिया, हमीं हैं—तुम नहीं ; अपराध हमारा है, तुम्हारा नहीं । मगर यह तुमने अपने को यों लुटाकर एक नया जीवन क्या दिया हमको, पाप का बोझ लाद दिया हमारे सर । उस दिन तो हम मरे नहीं, मगर मरे जाते हैं आज, तुम्हारे इस त्याग, इस एहसान के भार से ! तुम तो सीना तान अकड़ती रहोगी कि हम यों लुट गईं तुम्हारे लिए, और हम तुम्हारे इस कलंक के जिम्मेवार—तिल-तिल मरते रहेंगे आत्मग्लानि से । वाप रे ! तुमने यह त्याग क्या किया—एक अत्याचार किया हमारे ऊपर !”

“जो खुशी, कहो ; हम तो जैसे छाती पर पत्थर रख उस दिन आईं यहाँ—गलत या सही—आज भी वैसे ही पत्थर रख आई हैं कहने कि चर चलो । उस दिन तुम्हारी जान की भूख थी, आज तुम्हारे मान की भूख है ।”

“है कोई हमारा मान आज—हमारा या लल्ला का ? कोई एक भी जब

जान गया तो दुनिया जान गई समझो । कोई तुम्हारी खातिर मुँह सीकर तो बैठा न रहेगा । यह क्यों किया और कैसे किया—कोई जवाब नहीं । किया तो । अब क्या घर जायँ ? तुम्हें देख तो पाते नहीं; बदन छुलाना तो दूर रहे ।”

विमला एक-एक अनिल को देखती खड़ी रही । उसे तो हक था नहीं कि उसकी कही उसकी ज़बान से छीन, उसी के मुँह पर फेंककर कहे कि वह भी एक ऐसे पतित से बदन छुलाते थर्रा जाती है । यहाँ तो वह एक नहीं, हजार ऐसी विनोदिनी को क्यों न रखे, विमला को तो बस—‘मोरे सिंदुरवा की लाज’ ठहरी ! उसकी ज़बान पर तो बराबर यही उठेगी कि—‘तुम नीके रहो, उनहीं के रहो !’

“अच्छा, न आऊँगी तुम्हारे सामने । तुम घर तो चलो ।”

और कबल इसके कि अनिल कोई जवाब दे वह सीढ़ियों से खट-खट नीचे उतर गई ।

है-है ! बड़ी भूल हो गई । उसे चाहता रहा कि जैसे अनिल चंगा हो उठा उसी पल कहीं गुम हो जाती । जान भी दे पाती तो इतमीनान से साँस तोड़ती कि वह अपने कर्तव्य से छुट्टी पा चुकी है । आखिर जब मान से हाथ धो सकी तो जान से हाथ धोना तो बाँए हाथ का खेल था । यही निश्चय सर पर रख तो वह विनोदिनी के घर जा सकी थी, मगर हाथ रे समता का मोह ! अनिल और लल्ला के खिंचाव में पड़ वह तिलमिलाकर रह गई । आखिर अनिल ने गुलत क्या कहा कि अब ऐसी स्त्री को लेकर वह कैसे घर-गृहस्थी कर सकता है ? जाने कितने सुन चुके होंगे अबतक ! विनोदिनी कुछ मुँह सीकर थोड़े ही बैठी होगी ! बेचारा अनिल ! वह क्या मुँह दिखाता

होगा किसी के सामने ! छीः-छीः ! लल्ला सयाना होकर सुनेगा कि उसकी माँ ऐसी थी—तो **! हाय ! धरती फटती—वह समा पाती ! आसमान फटता—वह चूर हो जाती !

और, विमला अपनी भूल पर एक भयंकर आत्मधिकार से भर गई । उसे लगा कि उसका सब किया-कराया उसके हृदय के आवेश में पड़, जैसे भूल में मिल गया । अनिल की जान को देखकर उसका मान देखना भी बराबर था । भरसक वह लगा है विनोदिनी के हाथों जहर पीने !

घर आ गया । अन्दर गई, तो देखा—बाईं ओर की कोठरी में सभी बेखबर सो रहे हैं । ‘सोने दो, किसी को क्यों जगाएँ—क्या जगाएँ !’ मगर माता को ममता ने हाथ बढ़ा दिया दीवार की स्विच पर ! रोशनी भक्-से जल उठी । किसी की आँख न खुला । जाने कितने पल बच्चे को खड़ी देखती रही । आँखों के कोने में एक नमो-सी उभरी कि रोशनी गुल कर दी ।

आँगन में आई । सर उठाकर आसमान को देखा । दो पल खड़ी रही ! दरवाजे की ओर मुड़ी । और, फिर वह! मोगा आँचल का पल्ला कमर में बाँध उस गीली अधियारी में जाने कहाँ गुम हो गई !



एक वह भी वक्त आता है, जब दर्द होता है या नहीं—पता पाना मुश्किल है। अनिल अपना पता जैसे खो रहा है आज। नशा रहता है तो इबास नहीं; नशा उतरता है तो जैसे कोई हवस नहीं।

आज ठजड़ गया उसका नीड़—टूट गया उसका आश्रय।

घन नहीं, पद नहीं, मान नहीं, ज्ञान नहीं—कहींकुछ नहीं। एक विमला रही—हाँ। वह एक हॉ' भी लुट गया उसका। अब रहा क्या? बस, अरमानों की क़त्त का एक सुनसान अंधेरा। और, हाय रे जीवन का उलट-फेर। उस तुरबत पर जैसे चिराग जलाने आती है विनोदिनी—आँखों में मद लिए, दोठों में जाम लिए!

अक्सर वह सिर चीरता है कि विमला क्या हुई—गई कहाँ? उसने कब कहा था यों भाग जाने को?''क्या करती बेचारी! एक तो वह अपने को चुरा न पाती होगी अपने से; दूसरे, वह क्या समझ न गई कि जब विनोदिनी जान रही है, तो फिर इस मुहल्ले में जानने को बाकी कौन रहा? विमला, तो विमला, हम पर भी क्या उँगलियाँ उठने को बाकी होंगी भला? घर-घर वह चर्चा सौगुनी पल्लवित होकर कानोकान चलती होगी बराबर।

मुहल्ले में किसी से आँखें चार हुईं कि उसे लगता कि लोग आँखें मटक उसे घूर रहे हैं''हॉठ दबाए हँस रहे हैं। जभी तो हर परिचित से वह आँखें चुराए चलता है—किसी के घर जाना तो दूर रहे! ऑफिस में भी सकपकाया-सा, घबराया-सा रहता है—जाने कोई कब क्या पूछ बैठे—क्या

छेड़ बैठे ! ऑफिस के कमरे में आते ही वह रजिस्टर खोल बैठ जाता है अपने डूल पर, और यों गड़ा रहता है अपना हिसाब-किताब लेकर जैसे कि पल-भर कमर सीधी करने को भी फुरसत नहीं। लंच की छुट्टी के वक्त वह एक-न-एक हीला खड़ाकर अपने साथियों से कहीं दूर सरक जाता है और लौटता है ऐन ऐसे वक्त, जब ऑफिस के बाहर किसी संगी-साथी से भेंट होने की संभावना नहीं। एक तो चंद महोनों से वह इस ऑफिस में नौकर है; दूजे वह कभी का वैसा मिलनसार भी नहीं—नहीं तो, उसका यह अजीब रवैया यारों के लिए एक तमाशा होता।

मगर, और-तो-और वह विनोदिनी क्यों जान पाई ? अब वह क्या लेकर उसके आगे साना तान 'पैलिटी' और 'फरपो' में बँटकर खायगा ? वही तो एक वैसी निधि थी उसकी, जो उसे विनोदिनी पर भी हावी रखती। विनोदिनी पैसेवाली है तो क्या—खिलाती-पिलाती है तो क्या ? फिर भी कहाँ अनिल, कहाँ वह ! उसके पास पैसे लाख क्यों न हों, इस मान के मद में तो अनिल के सामने वह कहीं की नहीं है। मगर आज उल्टे अनिल हो गया जैसे कौड़ी का तीन, और रह गई वह पैसेवाली की पैसेवाली ! हा भगवान् ! और कुछ तो तुमने इस अभाग को कभी दिया न था—बस, गरीबी का संबल एक अपनी मर्यादा थी; उसे भी हाथ एँठकर छीन लिया तुमने !

वह पीने लगा। नशे में होता तो विमला को भूला रहता ; नशे में न होता तो विमला उसकी आँखों में फिरती रहती। ऑफिस में बैठा कलम घिस रहा है और सुन रहा है कि उसकी पीठ के पास खड़ी होकर जैसे वह पृष्ठ रही है—'हाँ जी, बाज़ार में कोई सस्ता-सा निकर न मिलेगा क्या'—सर्दी में लल्ला जो ठिठुर रहा है—'घर में बैठा लल्ला के साथ खेल रहा है

और वह जैसे रसोईघर के किवाड़ की ओट देकर वह रही है—‘दाल तो न रही आज, एक जरा-सा बेसन बच रहा है; तुम्हारे लिए दही की कढ़ी बनाए देती हूँ—है न ?’

दिन-भर तो, खरै ओप्रेस की पिसाई से दम-में-दम नहीं; मगर जब शाम होती है और वह घर आकर हाथ-पैर तोड़ पड़ जाता है चकनाचूर अपनी अंधेरी कोठरी में, तो एक ऐसी शून्यता हवास बाँधती है उसके अन्दर कि बस, अभी गोली लगाकर इस जान के जंजाल से छुट्टी ले ले। एकाएक वह डर जाता है और उस आत्महत्या की वृत्ति से पनाह पाने के लिए विनोदिनी हाथ से आत्म-विस्मृति देनेवाली विष की प्याली ढूँढ़ता है और सोचता है—चलो, वैसे न मरे ऐसे मरे। यों प्याला तो एक पलायन है जैसे -- अपनी पीड़ाओं से, अपनी परीशानियों से। यह बेखुदी की तलाश न होती तो विनोदिनी मुराद कभी पूरी हो पाती और विनोदिनी के होठों के रस में उसका दर्द डूब पाता तो फिर आग के पानी से वह गला सींचता ?

विनोदिनी पिलाने लगी। पिलाती तो उसे पाती, न पिलाती तो न पाती। नशे में होता तो उसके हाथ होता, नशे में न होता तो अपने आप में न होता।

विनोदिनी अन्दर-ही-अन्दर लहू पीती है कि विमला से उसे छुड़ा तो दिया, मगर वह तो उसका हुश्वा नहीं; नशे में हुश्वा तो क्या हुश्वा ? वह तो हुश्वा नहीं, हुश्वा उसका शरीर। एक जवान का पुलक-स्पर्श तो मिला; मगर वह खुद न मिला, न उसका हृदय मिला। और, वह पुलक का दौर भी क्या मिला, जब उसके अन्दर न आवेश की सहज उमंग है, न आनन्द का स्फुरण ?



सुबह आठ का वक्त होगा । अनिल की आँखें खुल पड़ीं ।

आँखें खुलने को तो खुलीं; मगर वह उन्हें खोले तब तो ! क्या खोले, कैसे खोले ?—दिन का उजेला जो दौड़ता है उसे काट खाने ! आज तो दिन अँधेरी रात है गोया और रात है दिन जैसे !

उसने चट करवट बदलकर आँखें मूँद लीं, मगर आँखें मूँदने से तो आँखें लगीं नहीं । न दिन ही रात हुआ और न चेतना ही अचेत हो सकी ।

क्या करे बेचारा ? अब तो न रात का अँधेरा है, न शराब का नशा । वह क्या लेकर अपने होश पर परदा डाले ? दिन आया तो होश आया, होश आया तो दर्द आया; याद आ गई विमला ! याद आ गया वह सारा कच्चा किस्सा । तबप उठी अपनी बेबसी; चीख उठी अपनी रुसवाई ।

तो वह आँखें खोले या न खोले, सुबह तो होकर रही । वही उजेला, वही चेतना । और, आज ही क्या, अभी जाने कितनी ऐसी भोर की विभीषिका मेलनी होगी ! महीने-महीने, सालोसाल । और, जी चाहे या न चाहे, उसे एँदर्यों रगड़ते ऑफिस जाना ही होगा । वही कुर्सी, वही डेस्क, वही हिसाब, वही किताब । दिन-पर-दिन, साल-पर-साल । बस, छद्-हीन जीवन, प्राण-हीन मन !

और अनिल आँख मूँदे देख रहा है दिल के आईने से अपनी सूरत—आखिर वह क्या है, एक गों ही — कुछ नहीं ! लेकिन, एक दिन किसी का वह

सब कुछ रहा—और आज तो न कोई उसका है, न वह किसी 'का'...क्यों, यह विनोदिनी जो है ?...क्या खूब ! वह कब किसी की रही है, है या रहेगी ? क्या सैकड़ों चूड़े खा के बिल्ली जायगी हज्ज करने ?...

आखिर अनिल कसमसाता उठा। हाथ-मुँह धोया ! फिर, सुन्न-सा चारपाई पर आकर बैठा कि लल्ला को गोद में लिए माँ आकर सामने आकृत की तरह खड़ी हो गईं। उसने आहत पाकर भी देखा तक नहीं।

माँ एक पल उसके मुरझाए चेहरे को देखती ठमकी रहीं। फिर बोलीं—
“बाबू, बहू का तो पता नहीं, बाट जोहते जाने कितने दिन निकल गए ! हमने तो सोचा था कि कोई बात हो गई होगी और रूठकर किसी भाई-भतीजे के घर चली गई होगी मगर वहाँ होती तो अब तक न अपनी खबर देती, न तुम्हारी खबर लेती ?”

“क्या जाने माँ, कहाँ गई वह !”

‘तुमने कुछ कहा तो नहीं ?’

“भला, हमने कब कहा कि घर से निकल जाओ। वह जाने क्यों खुद न रह सकी यहाँ।”

“क्या जानें भाई, किसने क्या कह दिया तुमसे। हमारा घर तो उजड़ने पर आया। यही देखो, हमारा तो बस, अब-तब आ चला है। भला, कौन संभालेगा लल्ला को ?”

“क्यों, जीजी जो हैं ?”

“वह रसोई-पानी करेगी कि लल्ला की देख-भाल ? उसके सर पर तो एक बच्ची है ही। वही उसकी जान का जंजाल हो रही है। हम तो चाहती हैं कि कोई एक लड़की दूँद लेती तुम्हारे लिए ! है भी एक जानी-सुनी...”

“ना माँ ! भर पाया ! अब नहीं । अभी जैसे दिन हैं, कौन जाने उसे भी....”

“तो क्या यह महेगी यों ही बनी रहेगी छाती पर ? यह लड़ाई तो दुनिया को ले ही जातेगी जैसे !”

“सो होता तो दुनिया बस जाती माँ ! आज की दुनिया का तो मिटना ही खैर है । आदमी जो हो गया है आदमी के लहू का प्यासा ! देखो न, हमारे-जैसे आदमी कितने खड़े-खड़े लुट गए और उस रामू ने—जो सड़क के उस पार है—लाखों लूटकर घर दिया चोर बाज़ार के चलते । हम गरीबों की तो दुनिया यह है नहीं माँ, मुट्ठी-भर लहूचूसी ही है यह !”

“यह क्या बोलते हो आनल ? रामू बेचारा तो बड़ा दयावान है । जब-तब उधार-धर भी देकर....”

“उधार पधार क्या माँ, वह जब-तब मुफ्त भी देगा—दयावान का नाम पाने के लिए । हमीं को लूटकर लाखों बना लिया और फिर हमें एकाध कुछ चटा-चुटकर मरने से भी रोक रखा, ताकि उसका बाज़ार न टूटे ! यह दान तो अपना इमान सँभाल रखने का एक मीठा कांशल है माँ ! वह तो जोंक है, जोंक !”

“ऐसा न कहो बाबू ! औरों के लिए वह जैसा भी हो, हमारे लिए तो वैसा दुरा नहीं । अभी कल ही तो तुम्हारी चाय में चीनी....”

“ओ हो ! वह तो वही देना है, जैसे वह सुबह उठकर रमने में इधर-उधर चींटियों को चीनी देता फिरता है और फिर इतमीनान की साँस लेकर बोरा-का-बोरा चोर बाज़ार में खपा आता है—दुगुनी-तिगुनी कीमत पर । चींटियों को तो वह चीनी देगा ही ! आदमियों को दे तब न ? कंट्रोल-रेट

पर कोई मॉग बैठे तो बस, टका-सा जवाब कि है कहों ? कितने बेचारे हाथ मलते रह जाते हैं ! करें क्या ? कल दो छोकरे तो कोरा जवाब पाकर ऐसे ताव में आ गए कि हाथ छोड़ बैठते उस पर, मगर एक ज़रा-सी घुड़की पर फिस् हो गए पीछे ! जो आठों पहर हाथ फैलाए फिरता है, वह क्या मुट्ठी बाँध पाएगा भला ?”

विनोदिनी अब वह विनोदिनी न रही। पैसा तो उसकी आँखों में यों गिर गया, जैसे अपनी आँखों से वह खुद। अनिल को तो उसने पाया नहीं, अपना भी पता लगी भूलने। पहले वह अपने को उससे चुराकर रखती रही अब एक लहर-सी उठती है कि चित्त था पट उसके चरणों पर अपने को उड़ेल कर धर दे ! कहाँ वह बन्दिश थी कि जैसे हो, उसको उससे चुराकर भी लूट लें — यों हाथ नहीं आता तो उसे पिलाकर भी सीने में समेट लें, कहाँ आज यह प्रतिक्रिया-सी उठ रही है कि उसे लूट लेने के बदले अपने ही को लुटा पाती तो शायद यह छाती की भट्ठी टंडी होती ! हाय राम ! यह अनिल क्या आया, उसके जीवन में अनल आया !

आज वह पाती है कि वासना की बिसात पर उसकी गोटी लाल हुई भी तो क्या हुई, वह बाजी तो बैठे-बिठाए हार गई ! चली थी शिकार करने, और यहाँ हो गई खुद शिकार !

मगर बरसों की विलास-लिप्सा में बसी हुई उसकी वासना ऐसी विरति की वृत्ति के सीने पर सवार उसका गला अपने घुटनों में दबाकर चूर चूर कर देना चाहती है। और बस, विनोदिनी सोचती है कुछ और, करती है कुछ और। अपनी आदतों की गुथी से छुटकारा नहीं। अनिल के आगे आग का पानी ढालते उसका हाथ धरता है, मगर प्याले को वह जैसे आँखें मूँद भर ही देती है नशे में चूर अनिल की जवानी की चाशनी लूटते वक्त उसके

अन्दर की सोई हुई नारी एहवारगी चौंकर खड़ी हो जाती है, मगर रगों के लहू में उफनती हुई उल्लंग लालवा दलित्ता फणिनी की तरफ फन फैलाए वह फुफकार डोड़ती है कि बस !

इस जीवन की सड़क की जिस पटरी पर वह जाने कब से चलती आई, उस पर चलने को तो आज भी बल ही रहा वह; मगर जाने क्यों, रह-रहकर उसे लगता है कि यह मुच को दिशा को और तो कभी ले न गई। उसकी आत्मा को एक भूल मुलया में रखा परबस — जेमे कि कोई मजिद नहां। वह चाहती है कि लापो अब दूसरी पटरा पकड़े; मगर पकड़ नहीं पाती। उसके अतीत का तमाम अनुभव जैसे रास्ता रोक खड़ा हो जाता है सीना तान !

पल-भर अपने आराम के लिए विमला का पर्दाकाशकर उसने उस सती की सेज पर जो काँटे वोए, उसे छाड़ो, अनिल का भी तो उसने सबस्व लूट लिया जैसे ! उसका उतरा हुआ जर्द चेहरा उसके कलेजे में लगा है काँटे की तरह चुभने रात दिन ! बिना पिलाए तो उसके चेहरे पर लहू नहीं दौड़ता और न वह अपनी आँखें उसके सामने सीधी ही कर पाती है।

और अनिल की आँखों ने जाने क्या चौंका दिया उसके अन्दर कि वह लगती है रह-रहकर एक दर्द — एक शर्म — महसूस करने; साथ-माथ उसकी प्रकृति की ओर से एक फिफक भी आती है कि हैं ! यह उलभन कैसी ! चली बिजलियाँ गिराने, और छलक आए आँखों में आँसू ! दिल की जिन नादानियों पर वह बराबर हँसती आई, वही आज आई हैं उस पर हँसने ! भला वह क्या जाने कोई दर्द, वह क्या जाने कोई शर्म ? यह तो सरासर एक नई जमीन है, और नया आसमान — कभी की उसकी अपनी दुनिया नहीं। .. ना-

ना वह उसकी होकर नहीं रह सकती। उसका नाज उससे उठने को नहीं। जो सटाती हो, वही जाने।

उठायो तो था विमला ने ! क्या पाया ? बराबर दोनों हाथों प्राणों को निचोड़-निचोड़कर अपना बूँद-बूँद मधु उड़ेलती चली गई ; यों देते देते लुट गई। अपनी न कोई खुशी थी उसकी, न अपनी कोई मांग। पति के सर को ऊँचा रखने के लिए वह अपना हरा-भरा संसार छोड़ जाने कहाँ विलीन हो गई आज !

आखिर यह सेवा और त्याग का सिलसिला क्या है—अपने पर अत्याचार ? अपनी हसरतों का गला टीपना ? और, यही रहा है नारी-जीवन का आदर्श ! अजी, वाह ! यों जीवन को विफल कर जीवन के लक्ष्य को छूना ! क्या कहने हैं इस फिलॉसफी के !

मगर अचरज तो यह है कि वह आई है लेते-लेते लुटने। कोई हँसे; कोई रोए। बराबर अपनी मर्जी रही; अपनी खुशी ! न मोह, न माया। फिर भी आज यह क्यों लगता है कि वह बालू ही बुहारती चली आई—खिन्दगी के गुर से हाथ धो बैठी है; तो क्या दिया तो, लिया तो—अंजाम एक ? तो क्या त्याग और भोग एक ही वर्तक के दो सप्ते हैं—एक ही जड़ की दो शाखें ? न उससे जीवन फूला-फूला, न इससे ?

यों विनोदिनी अपनी भावनाओं के भँवर में डूटती रही। सारा दिन उसका पहाड़ होने लगा। उसकी वह जिंदादिली जाने कहाँ लुट गई ! आदत से मजबूर ठहरी—अपना शृंगार कर लेती है, पर उस शृंगार में शौक का हाथ ढीला हो पड़ा। अपने द्वंद्वों से पनाह पाने के लिए कभी वह यों ही ड्राम पर बैठकर उत्तर से दक्खिन की हद और दक्खिन से उत्तर की

हृद नाप आती या कभी नाव लिए गंगा की हिलोरो पर घंटों यों ही डोलती फिरती ।

उस दिन गोधूलि की बेला, अनिल हसब मामूल उसके घर आया तो देखा—विनोदिनी पलंग-कमरे के ऋक्ष पर औंधी लेटी हुई अपनी ठुड्डी एक मखमली कुशन में गड़ाए, गालों को हथेलियों में लगाए किसी सोच में डूबी-सी जाने क्या देख रही है । आज वह दीख रही है कुछ और । विनोदिनी की कोई बड़ी बहन हो जैसे । न वह रंग है, न वह चिकनाहट । आँखों के तले धारियाँ-सी उग आई हैं । गालों में जैसे झुर्रियों की सिकुड़न खिंच गई है ।

तो क्या अब तक जिसे उसने देखा था, वह उसकी कारीगरी थी; वह न थी ? वह जवानी का-सा जुलूस किसी कला का कमाल था, उसका अपना निखार नहीं ?

मगर, आज वह चाँद की चाँदनी कहाँ गुम हो गई ? यह कहाँ की हवा है कि वह रोन्क की लौ बुझी-सी दीखती है आज ।

अनिल की आहट पाते ही वह जैसे चौंक उठी । बोली—“क्यों अनिल, विमला तुम्हारे यहाँ न रही क्या ?”

“खूब ! जैसे कि तुम जानती ही नहीं ।”

“हमें क्या मालूम ? कब गई तुम्हारे यहाँ इधर ?”

“क्या बताऊँ, कहाँ गुम हो गई । किसी संबन्धी के घर गई होती तो अबतक पता न चलता ?”—अनिल ने एक गहरी सांस ली और बोला ।

“यह बैठे-बिठाए क्या कर दिया तुमने ? इस अनर्थ की कोई हद भी है ? बेकसूर किसी को यों रेत दिया !”

“भला, हमने कब क्या किया ? हम तो जानते हैं, अपना किया ही आगे आता है ।”

“वह अपने लिए कुछ करती तो तुम भी जो जी चाहे करते । मगर उसने तो जो कुछ किया.....”

“आखिर किया तो !—किसी के लिए सही”

“मैं पूछनी हूँ,—माना कि अपनी बेबसी में वह कोई रात कहीं रह ही गई तो फिर वह कहीं की न रही बेचारी—जैसे दुनिया बदल गई उसकी ?”

‘ तो अब बदलने को बाकी ही क्या रहा ? फिर काया तो बदल न पाएगी वह । तुम पैसेवाली ठहरी, शायद इसकी कद्र न करो; मगर हमारी तो यही सारी पूँजी ठहरी ।”

“अजी, मैं पता भी है ? आजकल सोसाइटी में यह रोज़मर्रे की बात है—हम बड़े घरों तक की कह रही हैं—समझे ?”

“अरे भाई, बड़े घरों की बातें और हैं । पैसेवालों की बहू-बेटियाँ इस नई सभ्यता के चलते चाहे जो कुछ भी करें, उनपर कोई आँच आने की नहीं । पैसे का आब-ताब हर किसी की आँखें बाँध रखता है, हर किसी के मुँह पर ताला लगा देता है जैसे । अमीरों की रस-विलासिता, उनकी जिन्दादिली या कला की कद्रदानी होकर उड़ जाती है—और वही कहीं गरीब की बहू बेटी, किसी मजबूरी में कुछ कर बैठी या यों भी बदनामी उठ गई, तो फिर वह कहीं की नहीं रही । गरीब की छाया ऐसी हलकी रहती है ! भला लाली उड़ गई तो फिर क्या लेकर समाज में मुँह दिखाएगा वह गरीब ?”

“सुनो जी, वह माता हो जाती .तो एक बात भी थी । जब वैसी कोई

बात न ठहरी, तब फिर यह सजा कैसी ! और, तुम जान भी रहे हो कि व . अपनी खुशी से उस कूचे में न गई । तुम मानो या न मानो, जिसे तुम पतन समझते रहे हो, वह कलकत्ते में एक फ़ैशन है—फ़ैशन । कोई उसे लेकर तुम्हारी तरह सर नहीं खपाता । बिलकुल दक्कियानूसी संस्कार ! ज़रा-सी खामख़याली के पीछे अपना बसा घर यों उजाड़ देना ?”

“वही एक ज़रा-सी बात तो हमारी तमाम संस्कृति की भित्ति है पगली ! तुम विलायती हवा में न पली रहती तो ज़रूर पहचान पाती कि यह क्या है ! माता और पत्नी होना हमारे यहाँ एक बहुत बड़ा दायित्व है, खेल नहीं । एक पल के लिए भी पैर ढिगा—जाने-अनजाने जैसे भी हो—और वह डूब गई रसातल में ! गोली से उसे उड़ा देने में भी किसी को हिचक नहीं ।”

“और पुरुष पर कोई पाबंदी नहीं—वह जो भी करे ?”

“हाँ ! चूँकि उसकी छाती में दूध नहीं उतरने को ! उस पर वंश की मर्यादा का भार नहीं ।”

“अजब है तुम्हारा इंसान ! तुम हमसे बदन जुला लोगे, उससे नहीं !”

“तुम्हारी बात और है । तुम पर तो ऐसी कोई ज़िम्मेवारी नहीं ?”

“तो चलो, हमीं अच्छी हैं । कोई पख नहीं !”

तुम और हो; वह और । कोई मुकाबला नहीं दोनों का । घर का भोजन और है; होटल का डिनर और ! सिंदूर की लाली और है, पाउडर की गुलाबी और ! और फिर तुम्हारी दुनिया शृंगार है, उसका प्यार—वह प्यार, जो त्याग से खिलता है, भोग से नहीं ।

“युनो अनिल, आज सबसे विमला को देखा है—दूर गंगा के तीर,

सच मानो, हम अपने में नहीं हैं, ...वह तो सूखकर आधी भी नहीं रह गई थी बेचारी !”

“अरे, देखा है तुमने ?”

“हाँ ! और हमारी जान जैसे आँखों में उलटकर रह गई । क्या बताऊँ—क्या हाल है अपना !”

“अजी, वाह ! तुमसे गरज ?”

अनिल समझ रहा है कि विनोदिनी बन रही है । वह विमला के लिए क्यों रोएगी भला ! आग लगाकर चली है पानी ढूँढ़ने । बस, एक तीखा व्यंग्य—एक कुतूहल है अनिल की चेष्टा में । एक अचरज भी है कि विनोदिनी यह क्या लेकर उठी है यों बेसूद की ! आखिर इस हवा का रुख किधर है—वह ढूँढ़ नहीं पाता है । विमला को कहाँ देखा है, और कैसे—यह जानने को जी भी कचट रहा है, अंदर ही अंदर । कलेजा उछलकर आ रहा है मुँह पर, मगर वह मुट्ठी में थाम रहा है बरबस ।

“शायद तुमसे गरज है इसलिए ।”

अनिल ने कहा—“हमारे सुख-दुख से ! कहीं उझी जा रही हो तुम आज ?”

“तुम्हारे पैसे से होती, तो तुम जो ताने कसते ।”

“हमने तो समझ रखा है कि मन की एक उझती मौज होगी—महज एक ‘चेंज’ की तलाश, !

“उठी थी तो एक ‘चेंज’ ही ढूँढ़ने मगर अब अंदेशा है कि चेंज, के तले कहीं खुद न आ जाऊँ !”

“तुम क्या बदलोगी भला ?— ‘सूरदास की काली कामरि चढ़ै न दूजो

रंग' ! तुम्हारी दुनिया ही दूसरी ठहरी ! यह आज दिल की अनजान दुनिया की ओर कदम उठाती हो तो कहीं की न रहोगी तुम भी । कहे देते हैं—

“चाहत के कठिन रस्ते, करना है लहू पानी ।

तलवे का छुपा काँटा, आँखों से उठाना है !”

“मैं जानती हूँ कि सेमल सेकर पाऊँगी क्या ! मगर अब तो इस कठिन रास्ते पर जाने कैसे खिंची जाती हूँ ! क्या बताऊँ—‘जो दाग़ दिल में डूब चुके थे उभर गए’!..... मगर, छोड़ो हमारी बात । तुम जो मानो, हम विमला को यों लुटते देख नहीं पातीं—जाने क्यों ! तुम उसे नहीं रखते—न रखो, हम तो बेचारी को अपने यहाँ.....”

“अच्छी बात है ! तुम्हारे रंग में आती है तो वह और भी सँवरती ही है !”

“भला उस रंग में वह कभी आने को है ?”

“अब भी बाकी ही है ?”

“बाक़ी के बच्चे ! कुछ समझ भी रखते हो ! अजी, वह झँझोरी जो गई हो, कभी लुटी नहीं ! कोई जाने या न जाने, विनोदिनी की तो अपनी आँखों देखी है !”

यह क्या ! अनिल की एक-एक साँस गले की फाँस हो गई जैसे ! उसका रोआँ-रोआँ तनकर खड़ा हो गया है । लगा वह विनोदिनी की आँखों में आँखें डाल बात की रीढ़ ढूँढ़ने । बोला—“तो विमला इसे छिपाए क्यों बैठी रही ?”

“वह क्या जानती है बेचारी ! होश में थी भी किसी दिन ? एक ज़रा-सी चूमा-चाटी पर तो ऐसा लगा कि अब गिरी, तब गिरी ! जब आँचल पर

भटका आया तो मारे डर और घबराहट के गच पर ठक्-से कटे पेड़-सी जा पड़ी। भत्ता, ऐसी लाश लेकर कोई क्या करता—बोलो ? कोई अपने में हो भी....। जब मुँह पर पानी के छीटे दिए, पंखे झले, तब जाकर तो कहीं उसने आँखें खोलीं। जैसे-तैसे उसे घर वापस किया। यह तो कहो कि शोर-गुल करके हमने कुछ रुपए वसूल कर लिए, नहीं तो खाली बदनामी हाथ आती। हाँ, तुम्हारे गाँव का वह एक बूढ़ा-सा, जाने कौन था, उसने भी कुछ एँठ लिया दलाली में !”

“हाय राम ! वह भी जान गया क्या ? आखिर विमला की बेपर्दगी तो होकर रही। किस हद तक हुई—भगवान् जाने ! मगर पहले तो तुमने कुछ और कहा, आज कुछ और कह रही हो !”

“हमने तुमसे कब कहा कि वह एकबारगी....”

“जाने दो भाई, मैं ही कौन आदमी मैं था उस वक्त ? तुमने क्या कहा, क्या नहीं—उसे लेकर अब क्या होगा ? उसकी आबरू बची या गई—तुम जानो, तुम्हारा ईमान जाने। सीता भी जब अत्याचारी के घर से लौटी, तो उनकी अग्नि-परीक्षा हुई। मगर वह तो इस युग में होने से रही।”

“हो भी तो तुम उस पर रहोगे ? राम ऐसे मर्यादा-पुरुष तो रहे नहीं ! जाने किससे क्या सुन लिया और उसे चट निकाल दिया घर से। इतना भी दर्द न हुआ कि वह बच्चों की माँ होने पर आई है। पति की निंदा सुनकर सती ने बाप के विरुद्ध भी जान दे दी—ऐसी है नारी। और, राम ने एक भूठी-सी अफवाह सुनकर आग में तपाई हुई पत्नी को भी, अपनी वाहवाही के लिए, त्याग दिया !—ऐसा बेदर्द है पुरुष जैसे राम, वैसे तुम ! इस मामले में जिस पुरुष को टटोलो-- बस, उन्नीस-बीस ! हाँ, उस युग में, जब देखी

न गई तो धरती की छाती फट पड़ी; तब जाकर कहीं राम की आँखें खुलीं। आज भी नारी की वर्दाशत की ताकत जब ककड़ी-सी फट पड़ेगी, तब तुम चेतोगे— यों नहीं ! हम पर भी एक दिन कुछ ऐसा भी धुआँधार बीता कि संस्कार की तमाम कीलें एक भटके-से उखड़ गईं। नहीं तो हम यहाँ होतीं ! ऐसी आग उपटी कि माया-ममता उसी में खाक हो गई। क्या बताऊँ, फिर तो मर्दों से वह बदला लिया कि.....हों !”

“तो हमसे भी लोगी क्या ?”

“क्या लें तुमसे ? यहाँ पासा तो पलट गया। बाँत गया विमला के सर। और फिर उलटकर आ रहा है हमारे सर—जाने कैसे !”

“आज तो तुम जैसे कुछ और ही हो रही हो विनोदनी ! नहीं ! वह बू-बास भी छूट रही है क्या ?”—अनिल लगा आँखों में मुस्कराने।

विनोदनी अपने ही में उलझी बैठी रही। बोली नहीं। अनिल ने ही छेड़ा—“अच्छा, यह कहो, कब देखा उसे, कहाँ देखा ?”

‘यहाँ से थोड़ी दूरी—गंगा के किनारे। उसे क्या देखा, जैसे भविष्य के आईने में अपना ही चेहरा देखा !”

“मगर यह तो कहो, तुम उधर गईं कैसे ?”

“यों ही। जी नहीं लगा तो नाव से उधर एक चक्कर दे आई—शहर के शोर-गुल से दूर।”

“यहाँ के हवा-पानी से जी ऊब रहा है क्या ?”

“बुझ गया ही समझो !..... हाँ, उसे एक घाट पर चुप बैठे देखा। पहले तो पहचान न सकी—जैसी हो गई थी वह। जब नाव नजदीक आई और आँखें चार हुईं तो वह धड़फड़ सर पर पाँव रखकर भागी ! हमने नाव

किनारे लगाई। वहीं कोई कुटिया-सी है। एक बूढ़ा संन्यासी मिल गया। पता चला कि वह पगली-सी हो रही है। कहीं आती-जाती नहीं, वहीं तारे गिनती बैठी रहती है। किसी के घर जाकर आँचल नहीं पसारती।”

अनिल सोच रहा है कि हो-न-हो, यह वही घाट होगा, जहाँ पहले बार उसे देखा था, बेलूर से लौटते दुपहरिया की बेला ! गश् थी अपने परिवार के साथ गुरु धराने। उसी घाट पर उनकी नाव बँधी है। और, अनिल की आँखों के सामने विमला उतर रही है घाट की ऊबड़-खाबड़ सीढ़ियों में हाथ में कलसी लिए। आँखें तो हैं अनिल की आँखों से परिचय पूछने में लीन और पॉव रखने को कहाँ, तो रख देती है कहाँ ! मुँह के बल गिरते गिरते बचती है, मगर घड़ा चूर-चूर हो जाता है कंकड़ों पर आकर। माँ की भिड़की कानों पर टकराती है — ‘अंधा कहीं की ! देखकर चलती नहीं क्या ? कह तो सही, अब कोई कैसे खाएगा-पिएगा ?’ और अनिल उठकर अपनी सुराही देता है। वह उसे देखकर भी जैसे नहीं देख रही है.... मगर मुँह उधर फेरे और इधर हाथ बढ़ाए थाम लेती है। अनिल उन लंबी-लंबी पलकोंवाली काजली आँखों में आँख डालने की कोशिश में छुटपटाकर रह जाता है।

और बस, अनिल का तो यह हाल है कि अब गिरा, तब गिरा। सोफ़े पर लेट न जाता तो मुँह के बल ज़मीन पर जा रहता। चेहरे की रंगें उभर आईं; मगर उसने आँखों के कोने तर न होने दिए—पी गया आँसू जैसे।

“अच्छा, विनोदिनी ! वह मोतल तुम्हारी कहाँ है ?”

“न भाई, अब यह सिलसिला बंद करो। शराब का भारा आज तक कभी कोई लौटा नहीं।”

“किसी को लौटने की चाह भी हो ! यों भी तो वह बैठ-बिठाए दम तोड़

देगा !.....क्यों जनम के एक भूखे को इस रस की चाट देने गई तुम ? भला उसने क्या बिगाड़ा था तुम्हारा ? वह तो कभी हाथ फैलाए मोंगने नहीं आया था । अपनी गरीबी की खाल में ही मस्त था ?”

क्या जवाब दे विनोदिनी ? लगी आँचल को अपनी उँगलियों में लपेटने ।..... “क्या बताऊँ, यों तो शायद तुम्हें पाती नहीं !”

“है भी कुछ, कि पाओगी ?”

“है क्यों नहीं—और क्या नहीं है ?”

“गरीब के पास तो बस, एक पेट है !”

“यों पेट प्रबल है, जैसे अमीरों के पास दिमाग का जोर है । मगर दिल के लिए तो क्या गरीबी, क्या अमीरी । वह तो भगवान् की देन है ।..... हों, तुम जब विमला के न हो सके तो फिर.....”

“कैसे हों ? हो जो नहीं पाते !”

“तुम लोग बड़े वैसे हो—अपने संस्कार के गुलाम ! अमीर हो या गरीब, औरत की लाचारियों पर उसकी निगाह ही नहीं जाती जैसे ।..... मगर, तुम्हीं को क्यों कहें, विमला भी तो अपने संस्कारों के ही पीछे तबाह हो रही है । आज हम होतीं उसकी जगह, तो तुम्हें इस एँठ का मजा चखा देतीं । तुम्हारे सामने किसी को लेकर बैठ जातीं तो तुम्हें तीनों लोक आप नजर आ जाते ! वह बेचारी तो सीता के आदर्श पर पली है—बस, बिना कान-पूँछ डुलाए सहे जाना; अपनी कानी उँगली भी न उठाना जवाब में ! अभी तो सीता की गति भी पारही है आज ! उसे भी मिट्टी की ही गोद में पनाह मिलेगी -- बस !”

“तो तुम्हारी निगाह में, सीता का आदर्श कोई मानी नहीं रखता ?”

“उसकी वजह है ! किसी ज़माने में वह जैसा भी रहा हो, आज तो वह नारी की प्रगति का शृङ्खल है, बस ! फलना-फलना तो दूर रहे, पनपना भी आसान नहीं । पसलियों चूर-चूर हो गईं । पुराने मकान, पुराने लिबास या पुराने सिंगार-पटार की तरह पुराने आदर्श भी आज किसी के काम के नहीं । आज सीता-सावित्री क्या हैं, पुराने ज़माने की आलीशान हबेलियाँ हैं । उनकी मञ्चबृत्ती, उनकी कारीगरी, उनकी बुलंदी देखकर हम दाँतों-तले उँगलियाँ रखती हैं—उनके आगे सर भी झुका लेती हैं, मगर उनमें रह नहीं पाती । दम घुट जाय ! माना कि वे हमारे गौरव की चीज़ हैं; हम उनकी कथा सुनेंगी, दूर ही से प्रणाम कर लेंगी; पर किसी की सुख-सुविधा या विकास के लिए वे काम की नहीं । न हवा मिलेगी, न रोशनी । आज दुनियाँ बड़ी तेज़ी से कदम बढ़ाए दूर सरक गई है अनिल, उसके सामने मसले भी कुछ और हैं—अगर इस बदलते हवा-पानी में भी तुम्हारा रवैया नहीं बदला तो तुम मुँह लिए टापते रह गए !”

“खैर ! यह तो अपनी-अपनी नज़र है । और गरीबों की दुनिया तो अभी ज्यों-की-त्यों है । एक सनसनी-सी ज़रूर है, मगर उससे क्या ? भला हमारा-तुम्हारा मुकाबिला कैसा ! लाओ भी, वह तुम्हारी बोटल कहाँ है ? यों हाथ सिकोड़ लेना रहा तो फिर यह लौ लगाने की तुम्हें क्या पड़ी थी ?.....”

अनिल लश्खड़ता हुआ उठा । दर्राज से झट बोटल निकाल ली । बोला—“चित्त या पट्ट, हम तो अब इसीके होकर रहे !”—और उसने एक पेग ढाल ही तो लिया देखते ही देखते ।

“तो क्या ठहरी—कल चलने की ? हम अपने लिए भी उसे तलाश रही हैं, कुछ तुम्हारे ही लिए नहीं !”

“उसके लिए भी तलाशती हो, तो यों उसे रख लेना और है, उसे अपनी मर्यादा पाना और !”

विनोदिनी जैसे तड़प उठी—“अजी, मर्यादा के बच्चे ! अपने किए की आँच में भुन गए, मगर अरुढ़ न गई ! रखो भी तो उसे ! मर्यादा के लिए, एक और कर लेना । यह तो तुम्हारे बाएँ हाथ का खेल ठहरा !”



गंगा की गोद में नाव हँले-हँले चल रही है। हवा ठंडी है, फिर-फिर। आसमान पर बादल की टुकड़ियाँ छाया भी दे रही हैं, छटा भी। उनके अंदर से सूरज की सुनहली लाली छन-छनकर आती है गंगा की हिलोरोँ पर किलोल करने।

मगर अनिल की आँखों पर तो बोतल की गुलाबी है, बादलों की नहीं। न गंगा की लहर पर आँख है, न आसमान के विलास पर।

जब जी में जी नहीं, तो फिर आसमान पर अलबेले बादलों की अबीरी रही तो क्या, न रही तो क्या! उसके हाथ की प्याली भी कोई रंग नहीं चढ़ा पाती। मन हँसता तो आसमान खिलता, गंगा इठलाती और प्याली लहराती। जब वही थिरक नहीं पाता, तो दुनिया क्या थिरके!

विमला को देखने को अनिल का जी छटपट तो कर रहा है; पर उसे लाकर कहाँ रखे, कैसे रखे—यह छटपटी भी है बराबर। वही वह है, वही विमला है; फिर भी दोनों के बीच एक ऊँची दीवार-सी खड़ी हो गई जैसे। न वह इस पार आ पाती है, न वह उस पार जा पाता है! मगर विनोदिनी तो कह रही है कि विमला का दामन आईने की तरह साफ़ है?..... है वह ऐसा? हाय!—‘फ़स्ले गुल जब जा चुकी, अब्रे बहार आया करे!’ आज यह रहस्य खुला तो क्या, न खुला तो क्या! बात जो होने को थी, वह तो हो

चुकी । जिसे जानने को था, वह जान गया । अब तो पहलू बदलने से एक हँसी होगी; कोई हल नहीं ।

मगर विमला यों मारी-मारी फिरे और अनिल यों आँख मुँदे देखता रहे, यह हृद की भी हृद है । क्या करे बेचारा ! आश्रय देना तो प्रश्रय देना होगा जैसे ! हाँ, लाचार है वह जब, तब उसे कहीं तो शरण देनी ही होगी । और पवित्र भी है, तब तो उसकी जगह बनी की बनी है । अंदर भी, बाहर भी । बस, मुश्किल तो यह है कि वह खुद भी नहीं जानती कि वह क्या है, और आज जानने का कोई थाप नहीं !

यों अनिल देखने को तो क्या नहीं देखता है ? मगर विमला के उस देह-दान के अंदर पति और परिवार की खातिर एक निष्काम सेवा, एक असाधारण आत्म-निपीड़न दिखे या न दिखे, एक स्वलन तो हर बार दिख जाता है और दिख जाता है अपने प्रति एक अक्षम्य विश्वासघात । जिस पल उसने यह सुना, उसी पल उसकी छाती में एक गोली-सी लग गई थी । वह घाव, कोई कुछ करे, भर नहीं पाता है । उसकी अपनी गरीबी, उस आप-त्काल की प्रलयिनी परिस्थिति और विमला की बेबसी उस पर लाख मरहम दे, मगर उसकी टीस बनी की बनी रहती है और रह-रहकर उभर ही जाती है छाती की पँजरियों के अंदर ।

मगर, अब है यह विनोदिनी भी ! इसकी तो कायापलट हो रही है जैसे । अनिल देखता है कि क्या थी और क्या हो रही है आज यह ! कहाँ वह दिन था कि एक ढंग से कुछ भी करो—भला या बुरा—कोई मुज्जायका नहीं ! एक आज है कि सब किया-कराया उसके आगे आ रहा है जैसे । तो क्या उसके अंदर की नारी मरी नहीं थी, सोई थी ? तो

किसने जगा दिया उसे ? किस प्रेरणा के स्फुरण से उमड़कर आया है करुणा का यह पवित्र स्त्रावन ! कोई भी निमित्त हो, अनिल ही क्यों नहीं, यह धारा कभी उतर पाएगी उसके जीवन की तह तक ? यह दो दिन का वर्तमान उसके तमाम अतीत के विरुद्ध कब तक ताल ठोंक पाएगा भला ! यह तो जैसे पियूष का तौबा है—जब इधर जाने कितने घूँट गले से अंदर उतर चुके हैं ।

उधर विनोदिनी देख रही है कि कहीं विमला को अनिल के हाथों सौंप पाती, तो वह उसके हाथ से बोतल छीन लेती । यों छीनती है तो वह क्या लेकर अपना आँसू पी सकेगा ? मगर हाथ रे दुर्भाग्य ! यह बोतल तो आई थी विनोदिनी की दलाली करने और वही आज हो रही है जैसे उसकी चहेती । रह गई विनोदिनी उस अभिसार की दूती । वह तो उतर गई जंमे तह तक और यह रह गई सतह पर ही चकर काटती ! अब विमला नहीं रहती है तो वह भी नहीं रह पाती है अनिल के जीवन में । बस, रह जाती है एक यह बोतल । और फिर बोतल की यारी ! रही तो मुश्किल, न रही तो मुश्किल ! न रही तो अनिल लगता है अपना ही लहू पीने और रही तो अनिल उसे क्या पी पाएगा, वही उसे पिए जा रही है मुँहलगी !

“लो, आ गए तुम ! वही घाट है—सामने ? उसी कगार पर बैठी वह जाने क्या-क्या गुनगुना रही थी कि हमारी नाव किनारे आई ।”

अनिल देखता है कि यह तो वही चिर-परिचित घाट है—वही पेड़ों का झुरमुट, वही सीढ़ियों का ऊबड़-खाबड़ नक्शा ।

तो विमला की भाँभर नैया डूबती-उतराती अतीत के इसी घाट पर आ लगी है क्या ?…… कहीं जाती बेचारी ? जब न रहा वर्तमान, न रहा

भविष्य, तो फिर इस अनन्त अन्धकार में एक अतीत का सहारा शायद उसकी पतवार है आज ।

नाव किनारे लगी । विनोदिनी उतरते-उतरते बोली—“तुम यहीं ठहरो, हम पता ले लें पहले । एकाएक सामने फट पड़ना ठीक नहीं ।”

विनोदिनी दूर न गई होगी कि वह कलवाला संन्यासी सामने नज़र आया । छूटते ही बोली—“क्यों बाबा, वह पगली कहाँ है ?”

“अरे, वह ? वह तो जाने क्यों, उसी दम भाग जो खड़ी हुई तो फिर कभी भाँका भी नहीं झुंघर ।”

“आखिर दूर तो गई न होगी; आप ज़रा पता तो लें ।”

“पता हम कहाँ-कहाँ लें भाई ? बूढ़े हम ठहरे ।”

विनोदिनी ने उसके हाथ पर दस का नोट रख दिया—“कोई भी उपाय करो बाबा ! बड़ा धरम होगा ।”

“अच्छा, तो ठहरो; देखते हैं ।”

बूढ़े ने नोट को जेब के हवाले किया और झट गाँव की ओर बढ़ गया ।

विनोदिनी घाट पर आकर बैठ गई । अनिल भी वहीं बैठा रहा गंगा की हिलोरी पर आँख रखे ।

शाम हो आई । आसमान की सलोनी लाली लगी धुँधली होने । घाट पर एक भीड़-सी जम गई । दुनिया का एक छोटा-सा नक्शा खड़ा हो गया जैसे ।

एक ओर ढोल-मंजीरे लिए कीर्तनवाले खड़े हैं । ‘गौर हरि बोल’ के तराने गूँज रहे हैं—गूँज रहे हैं । सामने मैदान में गाँव के बच्चे कबड्डी

खेल रहे हैं; मगड़ भी रहे हैं। इधर पकौड़ियों के पहलू में चनेजोर गर्म का बाजार भी गर्म है। कंधे पर जाल सँभाले मछुए उतर रहे हैं अपनी डोंगियों से। जाल के अन्दर ताजी-ताजी मछलियों का तड़प प्यासी निगाहों के सामने पैमाने की छलक हो रही है गोया। गाँव की बहू-बेटियाँ काँख में कलसी लिए, भीड़ से कतराती हुई, गहुँनी सिमटी सी, घाट की ऊबड़-खाबड़ सीढ़ियों से ढौले-ढौले उतर रही हैं जल भरने। मगर, जवानी की सहज अंगड़ाइयों को छन्द भाँगमा आँखें थाम ही लेती हैं बरबस !

मनचलों के कानों पर कीर्तन की सुरीली तान भूमती-इठलाती है तो क्या, उनकी आँखें ता जैसे चूम रही हैं तीर की युवतियों को और डोंगियों की मछलियों को।

और, नदी के कगार के नीचे जाने किसकी चिता जल रही है। आग को नीली-पीली लपटें रह-रहकर दुँद बाँधती हैं और कगार पर बैठी एक पगली रह-रहकर उसी लौ में कूद पड़ने को तड़प उठती — तड़प उठती है।

एकाएक संन्यासी की आवाज पर दोनों चौंक पड़े—“कहीं कोई पता न चला, भाई ! साइकिलें दौड़ाकर थक गया। पता नहीं, वह जीती है या”

“क्यों, क्या हुई ?”—विनोदिनी ने अकचकाकर पूछा।

“उधर सबक पर मालिटरी लारियाँ अंधाधुंध दौड़ रही हैं ! यहां से थोड़ी दूर कल रात एक औरत लारियों की चपेट में आ गई। क्या जाने वही है ! जैसी पगली थी वह !”

“तो उसे अस्पताल नहीं ले गया कोई ?”

“अस्पताल ! अरे गंगा की गोद में गई भाई !”

x

x

x

x

रात हो आई । आसमान पर तारे बिखर गए । गंगा की लहरें डरावनी हो उठीं । घाट का मेला उखड़कर टूट गया । न बसेरे पर पंखी उड़ गए । अनिल गुम; विनोदिनी सिद्ध । कहीं कोई स्पंदन नहीं—सब निर्जन, निरानंद । सिर्फ एक मरियल-सा कुत्ता हड्डियों का ढाँचा लिए सामने गूलर की गाछ के तले औंधा-सा पड़ा है, उसकी छाती की पंजरियों सोंस की शिद्द से लुहार की भाथी की तरह चल रही हैं—चल रही हैं । और, उस संन्यासी की कुटिया की ओर से हवा पर थिरकती हुई आ रही है किसी सुरीले गले की लोचदार आवाज—

‘यह संसार फूल सेवर को, सुन्दर देख भुलायो ।

चाखन लग्यो रुई उघरानी, हाथ कछू नहि आयो !’

विनोदिनी देखती है—अनिल ने चादर की लपेट से एक बोटल निकाली । चलते वक्त उसने चुराकर रख लिया था क्या ? यह तो ! वह तो बोटल में बेखुदी ढूँढ़ने चला । मगर वह ? वह तो विमला-सी सती भी नहीं कि गंगा की गोद में शरण ढूँढ़ सके । एकबारगी घबराकर बोली—

“अब क्या होगा अनिल ?”

“होगा क्या ? अपना-अपना कर्म, अपना-अपना भोग !”

“उफ् ! तो फिर हमारा……” - उसके कलेजे से एक हूक-सी उठी, जो उफनकर मुँह पर चली आई ।

अनिल हाथ की बोटल उसकी ओर बढ़ाता हुआ बोला—“दुत्त पगली ! यह तो पिओ !” “हम यह सब सोचने लगे तो बाप रे !……”

और वह उठते-उठते लड़खड़ाकर वहीं बैठ गया । विनोदिनी आँचल से मुँह ढौप फफककर रो पड़ी ।

आँर, उसकी छाती की पँजरियों पर लहराती हुई आती है किसी के सींठे गले की दर्द-भरी तान—

“कहा भए अबके मन सोचें, पहले नहीं कमायो !”



